

## अध्याय द्वितीय

### समकालीन हिंदी उपन्यासों में स्त्री-दृष्टि का विकास (1990 ई० से आज तक)

---

साहित्य में इतनी शक्ति होती है कि वह अपने समय, जीवन और समाज को एक साथ अभिव्यक्त करता है। समकालीन उपन्यासकारों को भी वातावरण सृष्टि की पृष्ठभूमि विरासत में मिली और उन्होंने नवीन प्रयोग के साथ इसे प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। समकालीन उपन्यासों में सामान्य क्षणों में संघर्षों से लेकर बौद्धिकता, सौन्दर्यबोध के बदलते प्रतिमानों, उपभोक्तावादी संस्कृति, कैरियर के पीछे पलायन की प्रवृत्ति, लोकजीवन, शहरी जीवन का संघर्ष सभी कुछ बड़ी प्रामाणिकता के साथ उपन्यासों में स्थान पाते हैं।

उपन्यास जीवन की व्याख्या देने वाला सर्वाधिक समर्थ और सशक्त माध्यम है, सन् 1990 के बाद के उपन्यासों में नवीन जीवन मूल्यों के वर्णन तो हुए हैं साथ ही स्त्री प्रतिरोध के स्वर भी मुखरित हुए हैं। नब्बे के दशक के उपरांत भी अद्यतन अबाध गति से बढ़ता ही जा रहा है इनके लेखन में तेज स्वरों के साथ विरोध का स्वर भी सुनाई दे रहा है। पिछले तीन-चार दशकों में हिन्दी में **पुरुष उपन्यासकारों में** : सुदर्शन नारंग— प्रस्थान (1990); अरुण प्रकाश— कोंपल कथा (1990); देवेन्द्र इस्सर— खुशबू बनकर लौटेंगे (1991); क्षितिज शर्मा— उकाव (1992); देवेन्द्र सत्यार्थी— विदा दीपदान (1992); सुरेन्द्र वर्मा— मुझे चाँद चाहिए (1993); शरत् कुमार— शिखर और सीमाएं (1993); विष्णु प्रभाकर— अर्द्धनारीश्वर (1993); नरेन्द्र कोहली— जहाँ है धर्म, वहीं है जय (1993), क्षमा करना जीजी (1995); हंसराज रहबर— उन्माद (1995); कृष्ण बलदेव वैद्य— नर—नारी (1996), एक नौकरानी की डायरी (2001); भगवान सिंह— उन्माद (1999); भीष्म साहनी— कुंतो (1998), नीलू नीलिमा नीलोफर (2000); विजयमोहन सिंह— कोई विरानी सी वीरानी (1998); गोविन्द मिश्र— कोहरे में कैद रंग

(2004); संजीव – रह गई दिशाएं इसी पर (2011); इत्यादि तथा स्त्री उपन्यासकारों में : सिम्मी हर्षिता– यातना शिविर (1990), रंगशाला (2003); कृष्णा सोबती– ऐ लड़की (1991), दिलोदानिश (1993), समय सरगम (2000); प्रभा खेतान– छिन्नमस्ता (1993), अपने–अपने चेहरे (1994); मैत्रेयी पुष्पा– इदन्नमम् (1994), अल्मा कबूतरी (2000); गीतांजलि श्री– माई (1993), तिरोहित (2001); राजी सेठ– निष्कवच (1995); मृदुला गर्ग– कठ गुलाब (1996); चन्द्रकान्ता– अपने–अपने कोणार्क (1996); रमणिका गुप्ता– मौसी (1997); ममता कालिया– एक पत्नी के नोट्स (1997); अलका सरावगी– कलिकथा वाया बाईपास (1998), शेष कादम्बरी (2001); मधु भाधुड़ी– अनादि अनंक (1998); चित्रा मुद्गल– आवाँ (1999); ऊषा प्रियम्बदा– अन्तर्वशी (2000); कुसुम अंसल– तापसी (2003); मधु कांकरिया– सेज पर संस्कृति (2008) आदि ने स्त्री की अस्मिता तथा समस्याओं को गम्भीरता के साथ उठाया है। ये लेखक व लेखिकाएँ स्त्रियों की नयी वांछित दुनिया सामने ले आती हैं।

**स्त्री उपन्यासकारों में :** सिम्मी हर्षिता– यातना शिविर (1990), रंगशाला (2003); कृष्णा सोबती– ऐ लड़की (1991), दिलोदानिश (1993), समय सरगम (2000); प्रभा खेतान– छिन्नमस्ता (1993), अपने–अपने चेहरे (1994); मैत्रेयी पुष्पा– इदन्नमम् (1994), अल्मा कबूतरी (2000); गीतांजलि श्री – माई (1993), तिरोहित (2001); राजी सेठ – निष्कवच (1995); मृदुला गर्ग– कठ गुलाब (1996); चन्द्रकान्ता– अपने–अपने कोणार्क (1996); रमणिका गुप्ता– मौसी (1997); ममता कालिया– एक पत्नी के नोट्स (1997); अलका सरावगी– कलिकथा वाया बाईपास (1998), शेष कादम्बरी (2001); मधु भाधुड़ी– अनादि अनंक (1998); चित्रा मुद्गल– आवाँ (1999); ऊषा प्रियम्बदा– अन्तर्वशी (2000); कुसुम अंसल– तापसी (2003); मधु कांकरिया– सेज पर संस्कृति (2008) आदि ने स्त्री की अस्मिता तथा समस्याओं को गम्भीरता के साथ उठाया है। ये लेखक व लेखिकाएँ स्त्रियों की नयी वांछित दुनिया सामने ले आती हैं।

कभी एक ऐसा समय भी था जब नारी के लिए पर्दे की चहारदीवारी थी, उसे अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता नहीं थी। पहले पिता व भाई फिर श्वसुर और पति के संरक्षण में जीवन बिता देना ही उसकी नियति, उसका प्रारब्ध था, लेकिन धीरे–धीरे समय बदला, परिस्थितियाँ बदली तो स्त्री–समाज के प्रति लोगों का दृष्टिकोण भी बदलने

लगा। नारी की आकांक्षाओं और उमंगों ने नारी पक्ष को एक नया मोड़ दिया, उसे नयी दिशा मिली जो नब्बे के दशक तक आते-आते हिन्दी कथा साहित्य में विशेष रूप से उपन्यासों में दिखाई देने लगी। इस प्रकार हिन्दी कथा लेखिकाएँ अपने परम्परागत निर्जीव हो रही रूढ़ियों से घिरे पारिवारिक संबंधों की सारहीनता को चुनौती दी और एक लोकतांत्रिक वैकल्पिक समाज का स्वप्न देखने लगीं जिसमें उन्हें एक इंसान के रूप में पहचान मिल सके और नये स्वस्थ जीवन मूल्यों को सर्जना कर सके। 1990 के आस-पास के स्त्रीवादी व स्त्री लेखिकाओं के कथा साहित्य में ऐसे स्वरूप के दर्शन होते हैं। इस तरह आज के कथा साहित्य में रूढ़ियों, मूल्यों तथा क्रूर मानव समाज से संघर्ष करती हुई अपनी अस्मिता, अपने स्वत्व को समाज में जीवन रखने का सफल प्रयास करती हैं।

अध्ययन की सुविधा को देखते हुए हमने इस अध्याय में स्त्री व पुरुष लेखकों के उपन्यासों को अलग-अलग उपाध्यायों में बाँटकर उनका मूल्यांकन किया है। सर्वप्रथम हम पुरुष उपन्यासकारों के उपन्यासों में स्त्री दृष्टि के विकास का मूल्यांकन करेंगे।

### (क) पुरुषों द्वारा लिखित उपन्यासों में स्त्री-दृष्टि

**प्रस्थान (1990) :**

सुदर्शन नारंग के प्रस्थान की मुख्य कथा देश के बँटवारे से प्रारम्भ होकर आज के समय में दाखिल होती है। जसराज वैद्य उनकी पत्नी तथा रचना, रेखा, उदय, उनकी तीन संतानों के इर्द-गिर्द (दिल्ली के ग्लैमरस दुनियाँ जिसमें नैतिकता की कोई जगह नहीं) घूमती है। जसराज की पत्नी स्टेज की चर्चित तारिका बन जाती है, उसे काम जिस विधि से मिले बुरा नहीं लगता। इसी माहौल में उनकी तीनों संतानें बड़ी होती हैं। बड़ी बेटी रेखा किशोर उम्र में ही सतीश नामक युवक पर आसक्त होती है जो फिल्में बनाने की डींगे हांकता था। धीरे-धीरे यही रेखा उच्छृंखल होती जाती है। जब उसे फिल्में मिलने लगती हैं तो वह रवि नामक दूसरे युवक से शादी कर लेती है। दूसरी तरफ उसका भाई उदय संगीतकार बनने के चक्कर में लीला नाम की एक

---

द्वितीय अध्याय पृष्ठ संख्या – 90

विकृत महिला की संगत में आ जाता है। छोटी बेटी 'रचना' साफ सुथरे चरित्र की लड़की है पर पिता की बिगड़ती स्थिति को देखकर उसके अरमान बिखर जाते हैं— "नारंग रेखा के माध्यम से यह बताने की कोशिश करते हैं कि फिल्मों में काम करने वाली लड़कियाँ; फिल्मों को लेने से लेकर उसके प्रदर्शन तक ऐसे-ऐसे गुल खिलती हैं, जो सम्मानजनक नहीं होते। यह सिलसिला हर फिल्म के बाद उसी तरह चल निकलता है। उसमें न तो किसी सम्बन्ध के प्रति ईमानदारी रह जाती है और न मनुष्यों के प्रति आत्मीयता।"<sup>1</sup>

### कोंपल कथा (1990) :

अरुण प्रकाश के उपन्यास 'कोंपल कथा' का कथानक बिहार में ब्याह के लिए लड़कों को जबरदस्ती अगवा करने की कुप्रथा पर आधारित है। यह कुप्रथा दहेज की समस्या के कारण पैदा हुई है। जिसमें विवाह सिर्फ रस्म बनकर रह जाता है और जीवन भर लड़की और लड़का दोनों ही जिन्दगी को एक दुर्निवार यातना में बदल देता है। अपहरण करके लड़कों की शादी दहेज से क्षणिक बचाव का सुख भले देती हो, वह सफल दाम्पत्य का प्रमाण नहीं बन पाती। इससे असंख्य लड़के-लड़कियाँ अपनी जिन्दगी को अंधेरे में घिरा पाते हैं तथा अपनी जिजीविषा तक खो देते हैं।

### खुशबू बन कर लौटेंगे (1991) :

देवेन्द्र इस्सर का महत्वपूर्ण उपन्यास है। जिसमें स्त्री पुरुष के संबंधों पर चार्चा की गई है— "स्त्री पुरुष का रिश्ता काम विहीन भी हो सकता है और काम पूर्ण भी। लेकिन मेरे विचार में स्त्री पुरुष के दोस्ती में भी यौवन का कुछ न कुछ अंश, कोई न कोई रूप अवश्य होता है।"<sup>2</sup>

नारी मुक्ति के सन्दर्भ में ही लेखक उसे शक्ति स्वरूपा मानता है— "नारी शक्ति का स्रोत है।..... अपने शरीर की सुरक्षा के लिए अपने विरुद्ध लड़ने लगती हो। जब

पुरुष तुम्हें नारी समझता है तो तुम प्रोस्टट करती हो और जब तुम्हें नारी नहीं समझता है तो आफेन्स महसूस करती हो।”<sup>3</sup>

### उकाव (1992) :

क्षितिज शर्मा का उपन्यास ‘उकाव’ 1992 में प्रकाशित हुआ। इसमें एक गरीब स्त्री के संघर्ष की कहानी प्रस्तुत की गयी है, यह संघर्ष नीचे से ऊपर उठने का अर्थात् मंजिल तक पहुंचने का संघर्ष है, इसलिए उकाव है। उपन्यास की केन्द्रिय पात्र श्यामा परंपरागत सामाजिक व्यवस्था से दमित है, इससे उबरने के लिए अथक प्रयास करती है। पहाड़ी जीवन से सम्बन्धित पहाड़ी स्त्री का संघर्ष पहलीबार संघर्षशील रूप में सामने आता है।

### विदा दीपदान (1992) :

देवेन्द्र सत्यार्थी जी ने नारी में आई चेतना को दर्शाने का प्रयास किया है कि आज की नारी शिक्षित हो गयी है और घर की चहर दीवारी से बाहर निकल कर और पुरुषों से कंधा मिलाकर चलने में विश्वास रखती है। पाश्चात् संस्कृति, सभ्यता, ज्ञान-विज्ञान का प्रभाव भारतीय नारी पर पड़ा है।

उपन्यास में प्रेम के स्वरूप को दिखाते हुए कथाकार ने यह स्पष्ट किया है कि समाज में जहाँ प्रेमी-प्रेमिका सुखमय जीवन की कल्पना करते हैं। वहीं दूसरी ओर माता-पिता धर्म और नीति की बंदिशें लगाकर बाधा पहुँचाते हैं।

माता-पिता उसे कुल मर्यादा का वास्ता देकर समानधर्मा व अर्थ सम्पन्न परिवार में भेजना चाहते हैं। उपन्यास की पात्र अरुणा अशकरी से अपनी विवशता प्रकट करती है “भारतीय कन्या का एक तराजू होता है, जो उसके पिता के पास होता है। उस तराजू पर तुम पूरे नहीं उतर सके।”<sup>4</sup>

सत्यार्थी जी ने आधुनिक नारी के स्वरूप को अरूणा के माध्यम से प्रस्तुत किया है उस पर पाश्चात्य सभ्यता का पूर्ण प्रभाव दिखाई देता है। जिसके कारण वह भारतीय समाज को कोसती है— “हमारा समाज भी कितना पिछड़ा हुआ है। यदि निःसंकोच भाव से स्वतंत्रता का अंचल थामकर पुरुषों से मिलने जुलने का अवसर शुरू कर दो तो हर कोई उंगली उठता है। आखिर लंदन, यूरोप, और अमेरिका की भी। लड़कियां तो हैं ? कितनी निरंकुश, कोई भी तो उनके नाक में नकेल नहीं डाल सकता। यहाँ कॉफी हाउस में या किसी उत्सव में संकोच छोड़कर पुरुषों के निकट चले जाओ तो जिसके मुँह में जो आता है कह डालता है, मुझे इन लोगो की परवाह नहीं। इन लोगों के खातिर, जिनका मेरे जीवन से इतना संबंध भी नहीं, मैं क्यों अपने जीवन का पैटर्न चेन्ज कर लूँ? मैं उन युवतियों की तरह नहीं हूँ जो विवाह करके पति की व्यस्तता, बंगले, कार और ससुराल वालों का उल्लेख करती फिरूँ।”<sup>5</sup>

### मुझे चाँद चाहिये (1993) :

इस उपन्यास की नायिका वर्षा वशिष्ठ या सिलबिल या यशोध शर्मा संघर्ष, सफलता एवं प्रेम की प्रतिमूर्ति है। ‘हर्ष’ से प्रेम की परिणति उसके कौमार्य विसर्जन में होती है। वह परंपरागत संस्कारों की अन्य लड़कियों की भाँति परिताप या ग्लानि महसूस नहीं करती, बल्कि उसको सहजता से स्वीकार करती है। वह अपने क्रांतिकारी स्वभाव के चलते पश्चिमी सभ्यता की ओर आकृष्ट होती चली जाती है।

सर्वप्रथम क्रांति याद कहे कि बदलाव की लहर प्रारम्भ में ही दिखाई देने लगती है। जब सिलबिल से अपना नाम वर्षा वशिष्ठ कर लेती है—

‘तुमने अपना नाम बदल लिया है ?’

सिलबिल ने अपराध भाव से नीचे नहीं देखा। वह पूर्ववत् सामने देखती रही।

‘हाँ’ उसका स्वर स्थिर था।

‘काहे ?’

मुझे अपना नाम पसंद नहीं था।

पलभर चुप्पी रही।

“अगर हाई स्कूल में नहीं बदलती तो आगे चलकर बहुत मुश्किल होती।  
अखबार में छपवाना पड़ता। सिलबिल ने आगे जोड़ा वैसे ही समतल स्वर में।”<sup>6</sup>

“पर बेकार बहस करने को मन नहीं हुआ। अपना हाथ हल्के से छुड़ाते हुए उसने कहा, “मैं सिर्फ मादा नहीं हूँ।” अपने आप में यह आश्चर्य की बात है कि जो नायिका हर तरह से बन्धन तोड़ती हुई चलती है। वह मूलरूप से कितनी परम्परागत है और नारी पुरुष प्रधान समाज द्वारा औरत पर थोपी गई नैतिकता और मूल्यों को अंततः तोड़ती नहीं, बल्कि थोड़ा हेर-फेर से मजबूत ही करती है। वर्षा वशिष्ठ शराब पीती है, सिगरेट पीती है, जींस और स्लैक्स पहनती है, यहां तक कि विवाह पूर्व शारीरिक सम्बंध स्थापित करती है और किसी भी तरह के अपराध बोध से परे (कौमार्य विसर्जन के बाद) का दिन था। सिलबिल उमंग से प्रफुल्लित थी। इस पर भी क्या वह ऐसी पात्र है जो अपने महिला होने की सीमा को पार कर पाती है और किसी भी तरह के नए मूल्यों का प्रतिनिधित्व करती हो ?

वर्षा के जीवन में हर्ष के अलावा भी कई लोग आते हैं पर वह किसी को एक सीमा के आगे नहीं बढ़ने देती। तब भी नहीं जब वह जानती है कि उसका प्रेमी अपने से बड़ी उम्र की औरत के साथ एक रखैल (कीप) की तरह रह रहा है। क्या है अन्तर, रम्भा में और हर्ष में। न ही वर्षा किसी तरह की ऐसी प्रतिक्रिया करती है जिसे स्वाभाविक कहा जाए। प्रेम सम्बन्धों में ईर्ष्या का न होना असल में प्रेम को एक शारीरिक सुविधा में बदल देता है। क्या स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के एक्सपर्टों को भी यह बतलाने की जरूरत है ? दूसरी ओर वर्षा इस सबके बावजूद अपने हर्ष की देखभाल किए जाती है और पूरी तरह से समर्पित रहती है। चरम यह कि उसका नशेबाज प्रेमी मरने से पहले उसे गर्भवती कर जाता है। चूँकि लेखक को वर्षा की पवित्रता और

महानता को बनाए रखना था (याद कीजिए फिल्मों की कुंवारी माँ को) इसलिए पहले तो वह यह सावधानी बरतता है कि पाठक को पता चल जाए कि हर्ष और वर्षा के बीच (दूसरा) सहवास हुआ इसलिए गर्भ की प्रमाणिकता में किसी तरह की शंका नहीं है और इधर वर्षा अपनी प्रतिबद्धता के चलते आई0ए0एस0 खान्दान के अन्तिम चिराग को अपनी कोख में पनपने देने का निर्णय करती है।

नेशनल स्कूल आफ ड्रामा के दिनों की साथी रीटा के साथ एक संवाद इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है जिसमें वर्षा विवाह के प्रति अपनी लालसा और उसके महत्त्व पर जिस ललक से बोलती है उसका एक मात्र अर्थ यह निकलता है कि औरत की अन्तिम परिणति विवाह में ही हो। “कितने साल बीत गए पर मेरा नसीब नहीं बदला।’ दरवाजा बन्द करते हुए उसने (वर्षा) से कहा। मतलब? शादीशुदा सहेली के डबल बेड पर उसके पति की जगह सोने का? वर्षा ने हताशा का अभिनय करते हुए कहा। पर यह अभिनय जल्दी ही गम्भीरता में बदल जाता है।”<sup>7</sup>

वर्षा विशिष्ट एक ऐसी नायिका है जो स्वच्छन्द, क्रांतिकारी होते हुए नारी स्वतंत्रता पर भी अपनी एक पहचान बनाती है। स्त्री विषयक दृष्टिकोण से देखा जाय तो यह उपन्यास नारी मुक्ति, उंची उड़ान की आकांक्षा, आर्थिक रूप से स्वतंत्रता व हर जगह पहुँच बनाने का प्रयास किया गया है। सुरेन्द्र वर्मा ने हांलाकि इस उपन्यास में अनाधिकृत रूप से विस्तार दिया है तथा नाटकीय तत्वों को भी स्थान दिया है।

### शिखर और सीमाएँ (1993) :

उपन्यास में शरत् कुमार ने आलोच्य युग में प्रकाशित उपन्यासों की तुलना में नवीन प्रयोग किए हैं। इसकी विशिष्टता इसमें है कि उपन्यास में आज के समय में प्रेम की आकांक्षा उसकी प्रक्रिया और उसकी परिणति को एक ऐसे बिन्दु पर रखकर देखा गया है, जहाँ आकर वह भोग और मानसिक शोषण में विलीन हो जाता है। उपन्यास की केन्द्रीय पात्र दीप्ति और विनय परस्पर प्रेम करते हैं। दोनों में घनिष्ठ



सम्बन्ध है और शनैः—शनैः दीप्ति को यह लगने लगता है कि वह विनय के लिए निरजीव वस्तु में तब्दील होती जा रही है और उसका विवाह एक बन्धन बन रहा है। वह विनय के झूठे प्रेम को त्यागकर समरेश से जुड़ती है। समरेश की संलग्नता उसे एक शिशु का उपहार देती है, पर वह तय करती है कि उसके इस निपट बन्धन में जीने का भी कोई अर्थ नहीं है। दीप्ति पाश्चात्य जीवन संसार की निर्मिति है वह पुरुषों के साथ बराबरी करना चाहती है। किन्तु उसके सम्पर्क में आये विनय और समरेश में उसे पुरुष वर्चस्व की बू आती है। उपन्यासकार प्रश्न करता है कि क्या विवाह की मर्यादा क्षुद्र यौन तुष्टि में है या सामरस्यपूर्ण जीवन में? जाहिर है कि उपन्यास प्रेम की भूमि पर इस बन्धन को स्वीकार नहीं करता, किन्तु यह प्रश्न छोड़ देता है कि प्रेम की संचित घड़ियाँ जीवन को शक्ति देती हैं या अकेलापन और टूटन ? इसमें संदेह नहीं कि उपन्यास में स्त्री पुरुष सम्बन्धों के बीच प्रेम के माध्यम से जीवन के प्रति आस्था खोजने का प्रयत्न हुआ है। यह उपन्यास आज के समय में प्रेम को परिभाषित करने का एक बड़ा प्रयत्न है और उसे जीवन के भीतर देख पाने का यत्न भी। प्रेम बांधता नहीं है वह प्रवाहित होता है और विकसित करता है प्रेम की सरिता को। दीप्ति अपने को जहाँ पाती है, वह पाना और नये मार्ग की तरफ बढ़ना इस उपन्यास की बड़ी सम्भावनाओं का सूचक है।

### अर्द्धनारीश्वर (1993) :

अर्द्धनारीश्वर में विष्णु प्रभाकर ने बलात्कार की शिकार स्त्री की सामाजिक, मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक समस्याओं तथा स्त्री पुरुष सम्बन्धों की जटिलता का अंकन किया है। इसके साथ ही परम्परागत नारी संहिता से परिचालित नारी नियति का विश्लेषण भी हुआ है। उपन्यास का निष्कर्ष है कि नर—नारी को न तो एक दूसरे की दासता करनी है, न एक दूसरे में खो जाना है, न एक दूसरे पर अपने को आरोपित करना है। बस अपना—अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखते हुए एक दूसरे से जुड़ना है,

अर्द्धनारीश्वर की तरह। अनेक वर्गों, प्रान्तों और संस्कृतियों से स्त्रियों को सामने लाकर विष्णु प्रभाकर ने उनकी अन्तर शक्ति दिखाने की चेष्टा की है, जो भारतीय परिवेश में उन्हें सम्मान के साथ जीने की प्रेरणा देती है।

### जहाँ है धर्म वहीं है जय (1993) :

इस उपन्यास में कथाकार महाभारत से एक प्रसंग उठाता है कि शान्तनु ने गंगा से विवाह क्यों किया— “उसने यह नहीं पूछा कि वह कौन है? कहाँ से आई है? उसके माता—पिता कौन हैं? उससे विवाह करने के लिए किससे अनुमति लेनी पड़ेगी? उसका कन्यादान कौन करेगा? तथा विवाह के लिए वह ऐसी विचित्र शर्त क्यों रख रही है।”<sup>8</sup> यही नहीं नरेन्द्र कोहली ने पुरुष प्रधान सत्ता पर सवाल उठाते हुए भीष्म पितामह पर कड़ा प्रहार किया है। भीष्म विचित्र वीर्य के लिए काशी राज की तीनों कन्याओं अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका का हरण करते हैं। “भीष्म यदि विचित्र वीर्य के लिए पत्नी की व्यवस्था करने हेतु एक कन्या को लेने गये थे, तो उन्होंने तीन—तीन कन्याओं का हरण क्यों किया?”<sup>9</sup>

गान्धारी के माध्यम से भी कोहली जी ने स्त्री विमर्श को गहराई से जांचा परखा है। गान्धार नरेश सुबल अपने पुत्री गान्धारी का विवाह अन्धे धृतराष्ट्र से नहीं करना चाहते थे, किन्तु हस्तिनापुर ने सैनिक बल द्वारा अपना प्रभाव दिखाया। गान्धारी ने धृतराष्ट्र से विवाह के पश्चात अपनी आँखों पर पट्टी बाँध ली, जो कि गान्धारी की पातिव्रत्य का एक हिस्सा माना गया। “किन्तु आधुनिक आलोचक इस घटना को पतिव्रता के प्रेम के रूप में न देखकर नारी विद्रोह तथा प्रतिवाद के रूप में देखते हैं।”<sup>10</sup>

गान्धारी ने आजीवन अपने पुत्रों का मुँह भी नहीं देखा। उसने महाभारत के युद्ध के लिए धृतराष्ट्र को दोषी माना और कौरवों के विनाश के लिए दुर्योधन, दुशासन,

शकुनी और कर्ण को धिक्कारा। वह विवेकशील नारी है और नारी के प्रति संवेदनशील है, द्रौपदी अपमान के समय धृतराष्ट्र से कहती है कि वह दुर्योधन को त्याग दे। उसके मन में एक बात सदा चुभती रही कि पाण्डवों ने उसके पुत्र की हत्या की है, अथवा कृष्ण ने।

उपन्यास की दूसरी महत्वपूर्ण नारी पात्र कुंती के चरित्र पर प्रकाश डालते हुए कथाकार ने लिखा है— “कुंती ने बिना अपना धैर्य खोये उन कठिनाइयों से निकलने का प्रयत्न किया, उन चुनौतियों का साहस पूर्वक सामना किया और सदा ही उन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होती रही। कुंती के जीवन का जो गौरवपूर्ण पक्ष है, वह उसकी सफलता नहीं, उसकी कटुता—शून्यता, प्रतिहिंसा का अभाव, प्रतिशोध का निषेध, दया, करुणा, पर दुःख कातरता, उदारता तथा धर्म पर अडिग रहना है।”<sup>11</sup>

इस प्रकार गान्धारी और कुंती के चरित्र का अवलोकन करने के उपरान्त यह पता चलता है कि गान्धारी पातिव्रत्य धर्म का पालन करने में विश्वास रखती है। जबकि कुंती स्वच्छन्द विचरण में पाण्डु के वनगमन के उपरान्त पुत्राकांक्षा के कारण अलग-अलग देवताओं को आमंत्रित करती है और अपने सभी पुत्रों का लालन-पालन करते हुए सभी कठिनाइयों से लड़कर विजय पाती है। द्रौपदी के विवाह पर लेखक ने चिंता प्रकट की है। उनका मानना है कि उस समय बहुपतित्व विवाह प्रचलित नहीं था, फिर भी द्रुपद ने इसके लिए अनुमति दी। समकालीन लेखकों और विशेष रूप से कुछ लेखिकाओं ने नारी स्वतंत्रता के दृष्टिकोण से द्रौपदी पर हुए इस अत्याचार के लिए पुरुषों की घनघोर भर्त्सना की है।

लेखक ने युधिष्ठिर की न्यायप्रियता पर प्रश्नचिह्न लगाया है कि वह जुआ क्यों खेलता है? और उसमें वह अपने भाइयों, राज्य, सत्ता और यहाँ तक कि अपनी पत्नी को भी दाँव पर लगा देता है। कुल मिलाकर प्रस्तुत उपन्यास नारी विमर्श पर आधारित एक सर्वोत्कृष्ट उपन्यास है।

## क्षमा करना जीजी (1995) :

नरेन्द्र कोहली ने निर्मला उर्फ जीजी के माध्यम से नारी यंत्रणा की व्यथा कथा का चित्रण किया है। उसकी यंत्रणा का मूल कारण उसका पारिवारिक सम्बन्ध भी है। बचपन में जीजी को दादी द्वारा यातनाएँ मिलती हैं। घर में दादी का आतंक था, घर का सारा काम दादी देखती थीं, परन्तु सहयोग का सारा काम जीजी का ही था। जीजी को हमेशा छोटे गिलास में दूध मिलता था और यह चेतावनी दी जाती थी कि वह दूध को एक ही डीक लगाकर पी जाएँ नहीं तो उसकी चमड़ी उधेड़ दी जाएगी। “जीजी वैसे ही गिलास मुँह में लगाये खड़ी थीं। उन्होंने एक बार भी उसे होठ से अलग नहीं किया। .....माँ की आत्मा काँपती रही, दादी अपनी पोती को तरह-तरह से यातना देने की योजनाएं बनाती रहीं .....जीजी अधिक से अधिक घबराई; डरी और कष्ट में दिखाई देती रहीं; किन्तु जब गिलास उन्होंने मुँह से हटाया तो सब खाली थी।”<sup>12</sup> घर का काम करते-करते विद्यालय जाने में अक्सर देर हो जाती थी। स्कूल में मैडम की डाँट खाती और घर में दादी द्वारा डण्डित होती। इस कारण जीजी ने स्कूल जाना ही छोड़ दिया। इस बात से निर्मला की माँ दुःखी थी। जब जीजी हाथ बटाने आती माँ कहती थी— “जा अपना काम कर! पढ़ लिख। मेरे समान अनपढ़ और जाहिल बनेगी तो सारी उम्र रसोई में ही जुटी रहेगी।”<sup>13</sup>

जब जीजी ने कॉलेज में पढ़ने के लिए कहा तो पिता जी ने काफी आनाकानी की। हमारे घरों की लड़कियाँ मेम साहब बनकर; कॉलेजों में लड़कों के साथ पढ़ने नहीं जाती। मैं इसे कभी बर्दास्त नहीं कर सकता।

पिता जी जीजी की शादी के हक में थे, इस पर जीजी साहस के साथ विरोध करती हैं। “तो इतना मुझसे भी सुन लो, मैं यह नहीं होने दूंगी। पिता जी से कह दो, मुझे बांधकर किसी के साथ बिदा कर देने का प्रयत्न किया तो मैं उसे स्वीकार नहीं करूँगी। .....यदि मुझे अपने ढंग से जीने नहीं दोगे, तो अपने ढंग से मर जाऊँगी।”<sup>14</sup>

इसके बाद जीजी ने कॉलेज में दाखिला लिया और एम0ए0 तक पढ़ाई की। जीजी को फेफड़े का कैंसर हो जाता है वह जानती थीं कि इसका उपचार नहीं हो सकता फिर भी वह जीना चाहती थीं। “उनकी जिजीविषा टूटी नहीं थी .....जीजी जानती थीं कि इलाज नहीं हो सकता किन्तु वे चाहती थीं कि इलाज हो .....वे प्रयत्न करना चाहती थीं, वे लड़ना चाहती थीं, सबसे बड़ी बात यह थी कि वह जीना चाहती थी।”<sup>15</sup> इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास में यह दिखाया गया है कि नारी के विकास में सबसे बड़ी बाधा उसका कुटुम्ब ही बनता है किन्तु सारी वर्जनाओं के बावजूद यदि उसके अन्दर जज्बा हो, तो उसे आगे बढ़ने से कोई रोक नहीं सकता। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण जीजी उर्फ निर्मला है।

### उन्माद (1995) :

हंसराज रहबर ने आधुनिक सन्दर्भों में स्त्री के यथार्थ को प्रस्तुत किया है। उपन्यास की नायिका कुमुद विवाहित राजेश से प्रेम करती है और कुँआरी माँ बनने के लिए तैयार हो जाती है। जब उसका सामना वास्तविक जिन्दगी से होता है, तब अपनी गलती की एहसास होता है और आत्महत्या कर लेती है।

हंसराज रहबर के उपन्यासों की विशेषता यह है कि उपन्यासों की नायिकाएं आत्महत्या कर लेती हैं और प्रस्तुत उपन्यास भी इसका अपवाद नहीं है। इन आत्म हत्याओं से उनकी समस्याओं का वैयक्तिक हल संभव नहीं है। जब तक समाज के माप दण्ड नहीं बदलेंगे, सामाजिक मानसिकता नहीं बदलेगी, तब तक इन समस्याओं का निदान नहीं हो सकता। प्रभाकर माचवे के अनुसार— रहबर का कथा साहित्य रोचक, प्रेरक तथा समकालीन परिस्थितियों का लेखा—जोखा होता है। इसमें न तो प्रकृति चित्रण का विरोध और न नारी सौन्दर्य के चित्रण का मोह। रहबर के समक्ष सौन्दर्य चर्म में नहीं कर्म में है और धर्म पलायन में नहीं संघर्ष में है।

## नर—नारी (1996) :

इस उपन्यास में आत्मालाप शैली में परिवार की सेक्स समस्याओं के साथ ही स्त्री पुरुष के वर्चस्व की टकराहट का चित्रण है। जहाँ पुरुष अपनी पत्नी पर जुल्म ढाता है, वहीं पत्नी भी उन्मुक्त भाव से पर पुरुष से संभोग का आनंद उठाती है। उपन्यास का नायक राजेश अपनी पत्नी सीमा के साथ पशुवत व्यवहार करता है। उसका चरित्र इस तरह पतित है कि अपनी माँ रजनी पर ही आसक्ति रखता है— उसकी (रजनी) आँखों में अब भी चमक बरकरार है, तो चेहरे पर अब भी आकर्षण, जिससे बहुत बार राजेश भी भूल जाता है कि वह उसकी माँ है या कोई और यही कारण है कि राजेश बार—बार अपनी माँ के सौन्दर्य और जवानी को याद करता है और उसकी गोंद में सिर रखकर या गले मिलने का सुख पाता है। उपन्यास की स्त्री—पात्र डौली, रसीला की सहेली है, अविवाहित है और अमेरिका से भारत आती है। उसका जीवन स्वतंत्र और उन्मुक्त है। 'चम्बेली' जाति से महरी है और हर फन में माहिर है। वह अपने मुस्तण्डे प्रेमी से खुश है और परिवार नाम की संस्था से उसे चिढ़ है। कुल मिलाकर इसमें नारी का असंतोष, विद्रोह और आक्रोश तो व्यक्त हुआ है, किन्तु वह पुरुष वर्चस्व के विरुद्ध विस्फोट बनकर रह गया है। इसके स्त्री मुक्ति के संदर्भ पर विचार करती हुई ज्योतिष जोशी जी लिखते हैं— “अंततः स्त्री मुक्ति का संबंध कहां से जोड़ा जाये। क्या यह मुक्ति है कि वह विवाह तो कर ले और संबंध अपनी इच्छा से बनाती चले, या पति और प्रेमी दोनों को समान धरातल पर जीने की स्वतंत्रता पा ले या फिर वह विवाह नामक संस्था को ही खारिज कर मुक्त जीवन जीने की ओर अग्रसर हो? निश्चित रूप से इन तीनों मुक्तियों का संबंध नारी मुक्ति से नहीं हो सकता। इसलिए माँजी, मीनू, रसीला, सीमा आदि की अपनी जिन्दगी नारी मुक्ति के विमर्श का आधार नहीं है जो पुरुष और स्त्री की बराबरी को सुनिश्चित करती हों।”<sup>16</sup>

## कोई वीरानी सी वीरानी (1998) :

विजयमोहन सिंह के उपन्यास कोई वीरानी सी बीरानी (1998) का कथ्य मूल्यों के बरक्स भोग की बहशियाना बर्ताव है। उपन्यास में एक संस्कृति की कथा है जो

भारतीय सामाजिक जीवन के समानान्तर बन रही है और जिसमें जीवन का अर्थ भौतिक तुष्टि है। उपन्यास के तीन नायकों— सुरेन्द्र, विवेक और सुजीत के माध्यम से उत्तरआधुनिक जीवन शैली से उत्पन्न त्रासदी की यात्रा की है। कथा का पहला नायक सुरेन्द्र पढ़ा लिखा नौकरीपेशा शादी-शुदा है। चार-पाँच बच्चों के बावजूद उस पर अय्याशी का भूत सवार है। वह लड़कियों को गन्दे कपड़ों की तरह उतारता पहनता है और अपने इन पापाचारों के लिए तर्क भी देता है— “इस कुशाग्र किशोरी का इससे भिन्न मुक्त परिवेश में विकास आवश्यक हो गया। अतः जब उसने स्वेच्छा से मेरे साथ चलने का प्रस्ताव रखा तो मैं सहज ही प्रस्तुत हो गया। मेरे सम्मुख अन्य कोई विकल्प भी नहीं था। .....अपने परिवेश से सर्वथा भिन्न, मुक्त और निरपेक्ष! अतः यह कृतित्व भी मेरा है और दायित्व भी। उपन्यास का दूसरा नायक सुजीत प्रतिभाशाली युवक है, जो पहली पत्नी की असामयिक मृत्यु के बाद अपनी आधी उम्र की लड़की से शादी करता है, फिर भी वह जीवन से सामंजस्य नहीं बैठा पाता। नशे की गोलियों एवं शराब के सहारे अपनी जिन्दगी को त्रासद बनाता है। उपन्यास का तीसरा केन्द्रीय नायक विवेक कथा के सूत्राधार की तरह है और वह अपने ही अनुसार आन्तरिकता से भरपूर है। वह कहता है— “हम अकेले तभी होते हैं जब सचमुच अकेले हों, लेकिन हम ज्यादातर दूसरों के साथ ही अकेले होते हैं, मैं इस अकेलेपन से बचना चाहता हूँ। उसका एकान्त उसकी यौन अतृप्ति में डूबकर खण्डित हो जाता है और अन्त में आते-आते एक विवाहिता अनीता से जुड़ जाता है। “यहाँ हर तरफ वीरानी है— ‘कुछ होता है’ जिसकी तलाश सबको है, पर यह तलाश अपनी क्षुद्र महत्त्वाकांक्षाओं और वासनाओं में घिरती जाती है और भयावह खालीपन तथा लिजलिजी भावुकता के सिवा किसी को कुछ नहीं मिलता।”<sup>17</sup>

## कृन्तो (1998)

भीष्म साहनी का एक सामाजिक उपन्यास है। यह “उस रिश्ते की कहानी कहता है, जो हमें परम्परा से भारतीय संस्कार के रूप में मिली है। परन्तु जब वही रिश्ता मान्यता प्राप्त पारंपरिक मूल्यों से हटकर एक नये आयाम की तलाश करता है,

तो हमारी सामाजिक व्यवस्था बालू की भीत की तरह भर-भराकर ढह जाती है। जिसका दूरगामी परिणाम आनेवाली पीढ़ी को भुगतना पड़ता है।<sup>18</sup> प्रोफेसर साहब ने जयदेव के सुषमा के प्रति प्रेम को नजरअंदाज करते हुए समझाया कि भारतीय संस्कारों में मौसी, बुआ और मामा की लड़कियां बहने होती हैं उनसे विवाह नहीं किया जाता। उनका मानना था कि “ऐसी भावनाओं का इस उम्र में उठना स्वाभाविक है। ऐसी चाहतें दिल में उठा ही करती हैं, पर शनैः-शनैः शांत भी हो जाती हैं जैसे ही जैसे वसंत ऋतु में हरी-भरी कोपलें निकलती हैं पर मौसम बीत जाने पर झर भी जाती हैं। ऐसी चाहत स्थायी नहीं होती। मात्र आकर्षण होता है।<sup>19</sup>”

प्रोफेसर साहब, जयदेव से कुंतों का विवाह कराना चाहते थे किन्तु जयदेव नौ साल बाद भी सुषमा को भुला नहीं सका था, जिसका हर्जाना जयदेव, कुंतो, सुषमा तीनों को भरना पड़ता है। जयदेव की मां इस आकर्षण को समझ गयी थीं और उन्होंने स्पष्ट संकेत भी कर दिया था “अगर तेरा सुषमा के साथ उन्स हो गया है और तू उसके साथ विवाह करना चाहता है तो बता दे। सारी दुनिया एक तरफ और मेरे बेटे की खुशी एक तरफ। मैं, जैसे भी होगा, तेरा साथ दूंगी।<sup>20</sup>” और अंत में जब कुंतो मर जाती है तब जयदेव की मां ही उसे सुषमा को अपनाने की सलाह देती है और समझाती है— “सुषमा भी बहुत ठोकरें खा चुकी है। तेरा घर भी सूना हो गया है। छोटे-छोटे बच्चों के साथ कैसे जिंदगी गुजार पायेगा ? कुंतो छोटे-छोटे बच्चे तेरे हवाले कर गयी।<sup>21</sup>” प्रोफेसर साहब का एक भाई सिंगापुर में रहता है और दूसरा जर्मनी में। धनराज प्रोफेसर साहब का छोटा भाई डाक्टरी की पढ़ाई समाप्त कर जब भारत पहुंचता है तो वह पूरी तरह से विदेशी रंग में रंगा होता है। वह अपनी भारतीय पत्नी थुलथुल की पूर्ण उपेक्षा करता है और सिंगापुर की प्रेमिका को याद करता है। थुलथुल उसे प्रसन्न रखने का पूर्ण प्रयत्न करती है किन्तु जब वह उसे नहीं अपनाता तो आत्मदाह कर लेती है। उसकी मृत्यु के उपरांत धनराज सिंगापुर वाली ‘डार्की डार्लिंग’ के ख्यालों में डूबा रहता है और पाश्चात्य संस्कृति वालों की तरह नयी लड़की



की खोज में रहता है। साहनी जी ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि परिवेश और वातावरण बदलने से संस्कार नहीं बदलते। जो विदेशी संस्कार और अपने अधिकारों में संतुलन स्थापित नहीं कर पाते उनका हाल धनराज जैसा ही होता है।

भीष्म साहनी ने कुंतो, सुषमा, थुलथुल और प्रोफेसर साहब की बड़ी भावज के द्वारा नारी के अन्तर्द्वन्द्व को दर्शाया है। ये स्त्रियां अपने पति को हर तरह से खुश रखने का भरसक प्रयत्न करती दिखायी देती हैं। एक ओर जहां सुषमा और कुंतों जहाँ आत्मनिर्भर बनती दिखाई पड़ती हैं वहीं दूसरी ओर कुंतो और थुलथुल अपनी जान तक गवाँ देती हैं। इस प्रकार भीष्म साहनी का यह उपन्यास बदलते जीवन मूल्यों का जीता जागता दस्तावेज है।

## उन्माद (1999)

उन्माद में भगवान सिंह ने उस परिवेश का चित्रण किया है जिसमें स्त्री केवल किसी की माँ या बहू बनकर ही नहीं रहना चाहती बल्कि वह अपना अलग मुकाम बनाना चाहती है। वह घर की चौखट में बन्द रहकर दमघोटू जीवन नहीं जीना चाहती बल्कि विकास के निमित्त पदों पर स्थापित होकर आत्मनिर्भर बनना चाहती है। रंजना के पिता जब उससे विवाह की बात करते हैं तो वह स्पष्ट प्रतिरोध करती है— “मुझे अभी विवाह नहीं करना है। मैंने मन में ठान लिया है कि नौकरी मिल जाएगी तक करूँगी। तब निर्णय लेने में आसानी होगी।”<sup>22</sup> उपन्यास की अन्य पात्र रंजना के माध्यम से उपन्यासकार ने पितृसत्ता के विद्रोह को रेखांकित किया है। पिता के नियंत्रण में पली रंजना की भूमिका पहले केवल आदेशों के पालन की थी, किन्तु उसकी दमित यौनाकांक्षा ने विद्रोह किया तो वह— “इतनी उन्मत्त हो चली थी की एकान्त सुख के क्षणों में वह जिस तरह चहकती थी .....वह बेतुका लगता था। मनोज उसे चुप कराता, तुम्हारी माँ या पिता जी के कान में पड़ रही होगी यह आवाज, इसका असर उल्टा होता है। वह किलक या हँसी या आह ऊह को अधिक श्रव्य बनाने लगती जैसे

कह रही हो— “यही तो मैं चाहती हूँ। मैं अपने सुख से उन्हें रौंद देना चाहती हूँ। उनके अवसाद को और बढ़कार।”<sup>23</sup> व्यक्ति को व्यक्तित्वहीन बनाने को इस पितृसन्तात्मक पारिवारिक भूमिका का विस्तार आबिदा के अब्बा के शब्दों में दिखाई पड़ती है— “तू मेरी बेटी ही नहीं है मेरा ख्वाब भी है।” आबिदा इस पितृ छवि में ढलती हुई स्वीकार करती है कि— “वह मेरे पिता ही नहीं थे, वह मेरे हीरो थे, मेरे आदर्श, इन्सानी ऊँचाइयों की मिशाल और उसके अब्बा कहते कि “ये मेरी लड़की भी है और लड़का भी, सारी ख्वाहिशें इसी से तो पूरी करनी हैं।”

उपन्यास में वर्णित दमित यौन आकांक्षा के अन्तर्सम्बन्ध को मिसेज मेहता के प्रसंग में देखा जा सकता है जो एक बच्चे की माँ बनने के बाद ही विधवा हो गयी थी। जब उसका लड़का बड़ा होता है तो उसके वैवाहिक जीवन को देखकर मिसेज मेहता की दमित यौन आकांक्षा जाग उठती है और उसको पूर्ण करने के लिए मिसेज मेहता सतसंग यात्रा में भोग दर्शन को प्रचारित करती है— “यह जीवन भोग है और इसे भोगकर ही समझा जा सकता है कि हमें जीवन मिला है। जो इसे भोग ही नहीं सकता वह जीवित ही नहीं है। मैं आपके सामने कह सकती हूँ क्योंकि मैंने आपके समाज द्वारा निर्मित मर्यादाओं को ओढ़कर अपनी उम्र के सबसे गौरव भरे काल को शीत निद्रा में गुजार दिया। .....मैंने तय किया, अब मैं निर्भय होकर अपना सुख और दुःख प्राप्त करूँगी।”<sup>24</sup>

जहाँ हमें मिसेज मेहता में एक आत्मसजग आधुनिक नारी के दर्शन होते हैं, वहीं रंजना नामक स्त्री पात्र में पुरुष वर्चस्व के प्रति समर्पण का भाव दिखाई पड़ता है। वह मनोज से कहती है— “तुमसे शादी नहीं करूँगी, बस साथ रहूँगी। बाँधूँगी नहीं, बँध कर रहूँगी। शादी पाशविक सम्बन्ध है। जैसे जानवरों को कसकर, बाँधकर, नाथकर रखते हैं, इस डर से कि बन्धन हटते ही वह छूटकर भाग न जाएँ।”<sup>25</sup> रंजना के वक्तव्य में हमें परम्परा और आधुनिकता का अन्तर विरोध झलकता है।

## एक नौकरानी की डायरी (2000)

वैद जी के दूसरे उपन्यास 'एक नौकरानी की डायरी' में मध्यवर्गीय परिवारों के बीच चूल्हा चौका करने वाली युवती के माध्यम से अभिजात्य वर्गीय मानसिकता पर प्रहार किया गया है। अभिजात्य वर्ग चोरी और कत्ल के सिलसिले में सर्वप्रथम नौकरानियों को ही आरोपी बनाता है जिससे नौकरानियों का जीवन दूभर हो जाता है। अंततः उपन्यास में चित्रित नौकरानी चूल्हा-चौका का काम छोड़ देती है नौकरानी का काम छोड़ना ही अभिजात्य वर्गीय मानसिकता पर तीखा व्यंग्य है।

## नीलू नीलिमा नीलोफर (2000)

इस उपन्यास में भीष्म साहनी ने कट्टरपंथी मुस्लिम परिवार की लड़की नीलू (नीलोफर) और सुधीर नामक हिन्दू युवक की बीच पनपे प्रेम के माध्यम से धार्मिक कट्टरता को विश्लेषित किया है और साथ ही नारी संहिता और स्वतंत्रता के बीच पिसती नारी जीवन की यातना का भी मार्मिक चित्रण किया है। उपन्यास का कथानक दो प्रेम कहानियों के माध्यम से आगे बढ़ता है। पहले कथानक में नीलू यह जानते हुए भी की हिन्दू युवक के प्रेम में ढेर सारी अड़चने आ सकती हैं, सारे-विरोधों का सामना करने के लिए तैयार हो जाती है। सुधीर के पिता का मानना है कि युवतियों के लिए प्रेम करना तो घृणास्पद कृत्य और जघन्य पाप है। इसलिए जब उन्हें पता चलता है कि सुधीर मुस्लिम युवती से प्रेम करता है तो गरज पड़ते हैं— ".....मुसलमानी से ब्याह करेगा, हरामी, दूर हो जा मेरी आँखों से।"<sup>26</sup>

तमाम अड़चनों के बावजूद नीलू और सुधीर एक दूसरे के हो जाते हैं। नीलू अपने माथे पर बिन्दी लगाने लगती है और कभी-कभी वह नमाज भी पढ़ती है। एक दिन उसे ढूढ़ते हुए उसका भाई हमीर शिमला पहुँचता है और झूठी सहानुभूति जताकर नीलू को अपने घर ले जाता है और उसका गर्भ गिरवा देता है। इस पर हमीर की माँ हमीर को डाटते हुए कहती है कि— "मेरी बेटी की कोख हरी हुई थी तूने उसका हमल

नोचवाकर घोर पाप किया है। इस पर हमीर तनक कर बोला मेरी बहन को हमल एक काफिर हुआ है। अपने पेट में काफिर का तुख्म लेकर वह इस घर में कदम नहीं रख सकती। मैंने गुनाह नहीं किया, मैंने सवाब का काम किया है।'<sup>27</sup>

दूसरी प्रेम कहानी नीलिमा (हिन्दू लड़की) और अलताफ (मुस्लिम युवक) के बीच आगे बढ़ती है। जहाँ नीलू प्रेम को सब कुछ समझती है और उसके लिए धर्म, जाति, परिवार सबको छोड़ देती है, वहीं नीलिमा धर्म के सामने प्रेम को न्यौछावर कर देती है। नीलिमा के पिता के लिए बेटी की खुशी सर्वोपरि थी, किन्तु उसकी दादी माँ को यह चिन्ता है कि मुसलमानों से ब्याह होने के बाद नीलिमा पर्दे में चली जायेगी। मुसलमानों में एक से अधिक ब्याह होते हैं। यदि अलताफ के घर वालों ने कुछ समय बाद दूसरा ब्याह रख दिया तो नीलिमा का क्या होगा। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए नीलिमा का विवाह अलताफ से नहीं होता और जिस हिन्दू युवक सुबोध से उसकी शादी होती है वह पुरुषवादी मानसिकता का प्रतीक बनकर उभरता है। वह नीलिमा को अपने पैरों तले दबाकर रखना चाहता है और उपभोग की वस्तु समझता है। नीलिमा की स्थिति जानकर उसके पिता बहुत दुखी होते हैं, लेकिन दादी माँ उनको नारी नियति से अवगत कराती हैं कि स्त्री दुःख भोगने के लिए संसार में आती है। उसे अपना सर्वस्व देना ही है, जीवन से कुछ मांगना नहीं है। आजकल लोग बराबरी की बात कर रहे हैं लेकिन बराबरी नाम की कोई चीज नहीं होती, स्त्री पराधीन होती है। घर में स्त्री का दर्जा माँ का होगा, घरवाली का होगा पर बराबरी का नहीं होगा। तलाक लेगी तो उसी की मिट्टी पलीद होगी। नीलिमा सुबोध के साथ सुखी नहीं रह पाती और आत्महत्या करने के लिए आग में कूदना चाहती है किन्तु जिन्दगी के बारे में सोचकर परिस्थितियों से समझौता कर लेती है। वह सोचती है कि लड़की का जन्म भी नाटक, विवाह भी नाटक और उसके जीवन के हर मोड़ पर नाटक होते रहते हैं। शादी के बाद नारी की जिन्दगी अस्तित्वहीन बन जाती है, वह कहीं की नहीं हो पाती। ससुराल तथा मायके वालों से समझौता करके उनके अनुकूल ढलना पड़ता है। समाज

में पुरुष और नारी का जो स्तर है इससे नीलिमा अवगत हो जाती है। वह पति के यहाँ लौटने का निर्णय करती है, नहीं तो वह कहीं की नहीं रह पायेगी। इस प्रकार उपन्यासकार ने धार्मिक घरे में जीने वाली पुरुष के अनुकूल ढलने वाली परिस्थितियों से समझौता करने वाली एक परास्त नारी की सोचनीय अवस्था का चित्रण किया है।

### कोहरे में कैद रंग (2004)

यह गोविन्द मिश्र का स्त्री विषयक महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। इसमें बड़े होते बचपन की स्मृतिकथा है। इसमें प्रेम का प्रौढ़ रूप चित्रित हुआ है। उपन्यास की स्त्री पात्र नानी, सविता, सावित्री, सरस्वती, रेवा, टूटू मौसी का जीवन उपेक्षित हैं। इस उपन्यास की अन्य पात्र माँ का व्यक्तित्व बहुत बहिर्मुखी है, उसका पुत्र बड़ा होकर सोचता है कि माँ बाप ने मुझे अपने बल चलना तो सिखा दिया लेकिन सोचना नहीं। नानी के शब्दों में हमें स्त्री उपेक्षा और उसकी संवेदना के विम्ब दिखाई पड़ते हैं— “क्या करें, हे भगवान बता दे कोई कौन से कर्म करने से औरत का जन्म न मिले।”<sup>28</sup>

हमारे समाज में सावित्री जैसी लड़कियों को इस लायक भी नहीं समझा जाता कि स्कूल भेजने का खर्च गवारा किया जाएँ। जिन्हें विवाह के मौके पर घर से बाहर फेकने तक घर में बर्दास्त किया जाता है। बचपन से ही औरत की बेचारगी भरी ज़िन्दगी आरम्भ हो जाती है। रेवा को एक केश हिस्ट्री बनाकर पेश किया गया है। वह परंपरित विवाह प्रथा की क्रूरता का शिकार होती है। उसका पुनर्विवाह होता है, फिर भी परिस्थितियाँ नहीं बदलती। “इन पात्रों में करीब-करीब सभी का वैवाहिक जीवन खराब है, कुछ का है ही नहीं। .....अपनी समाज व्यवस्था में विवाह..... भारतीय समाज की सबसे जानलेवा चीज है। शुरू में ही कुचल कर रख देती है, उसके बाद तो चलती फिरती लाशों की तरह जीते हैं लोग।”<sup>29</sup>

उपन्यास में स्त्री विमर्श के साथ-साथ कथाकार ने प्रेम विवाह, विवाहेतर सम्बंधों की जटिलता पर विचार किया है किन्तु इन सब के बहाने नारी विमर्श को ही संवेदना

के केन्द्र में रखा है। हमारे समाज में कामकाजी और सुन्दर स्त्रियों को इज्जत और नौकरी दोनों को साथ-साथ बचानी पड़ती है। इस समाज के जंगल में मुखौटाधारी भेड़ियों की कमी नहीं है और इन्हीं के बीच से नियति की यातना को झेलती हुई स्त्री को अपना रास्ता खुद तय करना है। वस्तुतः घर की सुरक्षा स्त्री के लिए बेड़ी ही है, यहाँ तक कि रईश घर की इकलौती लड़की के लिए भी उसका अपना घर किसी पिंजरे से कम नहीं। इसलिए अपने फ़ैसले खुद लेना, आत्मनिर्भर होना और स्वतंत्रता के साथ आगे बढ़ना, स्त्री के लिए सबसे बड़े जीवन मूल्य हैं और चुनौती भी। विवाह नामक संस्था पर टिप्पणी करते हुए उपन्यासकार रेखांकित करता है कि— “विवाह के अगुआ..... उनका काम तो था विवाह करा देना..... साले मरते रहें..... निकलोगे कैसे, ब्याह नहीं ब्यूह है, हमारा रचा हुआ!”<sup>30</sup>

हमारे देश में वैवाहिक परिदृश्य की यथार्थ स्थिति को कथाकार ने सरल शब्दों में व्यक्त किया है— औरत का काम है शादी के बाद, जिससे शादी हुई है उसके आगे पसर जाना फिर उसकी आड़ में होशियारी से इधर-उधर चाहे जो करना। .....लेखक का इशारा विवाहेत्तर सम्बन्ध से है जिसे वह वैध मानता है। वे ज्यादा वैध हैं क्योंकि दो जीवों के भीतरी आवाज से नीसृत है। जिंदगियाँ हमारी थीं पर समाज ने हमें तय करने नहीं दिया, तो हम अब तय करते हैं, ....अवैध है ये सम्बन्ध (विवाह) जिन्हें हमारे ऊपर लादा गया, जिन्हें अपनी अनिच्छा से ही चलाना पड़ता है। .....मुझे तो लगता है कि जब तक विवाह नाम की संस्था है, विवाहेतर संबंध होंगे ही होंगे। विवाहित जीवन चलता ही रहे इसके लिए भी वे जरूरी हैं .....लेखक विवाहेतर संबंधों को मान्यता देते हुए कहता है कि ‘स्त्री को स्वतंत्रता दे दी जाए, विवाह के पहले और विवाह के बाद भी।

## रह गयीं दिशाएँ इसी पार (2011)

संजीव का उपन्यास समकालीन पूँजीवाद की विज्ञान तथा स्त्री संबंधी अतियों-विकृतियों की निर्मम आलोचना है। पिछले कुछ दशकों में जीव विज्ञान में अनुसंधान और प्रयोग हुए फलस्वरूप लिंग परिवर्तन, उधार की कोख, हर्मोन थिरेपी,

क्लोनिंग, टेस्ट ट्यूब बेबी, कृत्रिम गर्भाधान, टिश्यू कल्चर आदि को पूंजीवाद ने अपने तरीके से अपनाया हैं जहाँ मानवीय मूल्यों को ताक पर रख कर पैसा बनाना चाहते हैं। उपन्यास का पात्र विशाल कहता है— “ये पैसे वाले ज्ञान—विज्ञान की सारी बौद्धिक सम्पदा को हथिया लेना चाहते हैं। अब तक सुनता ही आया था आज प्रत्यक्ष हो गया।”<sup>31</sup> उपन्यास की स्त्री पात्रों में एलिस, कैथरीन, मधु, कमला, लारा, शीला, सिम्मी, जूली और बेला हैं।

बेला एक मछुआरे की बेटी है। साँवली, सलोनी, जवान, जिद्दी, साहसी और संघर्षशील। माँ—बाप के समुद्र में गायब हो जाने के बाद स्वयं मछली पकड़कर जीवन का निर्वाह करती है। मत्स्य उद्योग में बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ छोटे मछुआरों को संकट में डाल देते हैं। फिर बेला बंगाल छोड़कर कोच्चि पहुँच जाती है। वह स्वतंत्र मत्स्य जीवी व्यक्ति से मजदूरनी बन जाती है। वहाँ भी वह चुप नहीं बैठती और अपनी वास्तविकता बयान करती हैं “सभी की सभी गरीब तबकों और निचली जाति की लड़कियाँ थी, प्रायः सभी अनपढ़। पैसे का हिसाब किताब कंट्रैक्टर रखता है, जो कुछ—न—कुछ पैसे मार लेता है। इसके बावजूद वे खुश थीं, कम से कम परिवार के दमघोटू वातावरण से उन्हें निजात मिली थी। तो क्या जिस परिवार के लिए तरसती रही वह इतनी बड़ी जेल है? और खुली हवा.....? आत्मनिर्भरता ही शायद वह खुली हवा है।”<sup>32</sup> बेला ने जहाँ भी कदम रखा वहाँ अन्याय उसे सहन नहीं, वह नेतृत्व करते हुए हर जगह आंदोलन प्रारंभ की— बेला जहाँ जाती थी, शोलों के बीज बोती चलती थी। मछुआरों का आंदोलन चल पड़ा।

सिर्फ इतना ही नहीं अच्छी वक्ता भी थी। संघर्षकारियों को प्रेरणा देते हुए कहती है— “सिर्फ गुस्से के दम पर इस अन्याय का खात्मा नहीं किया जा सकता। हमें मुक्ति चाहिए! मुक्ति चाहिए इस दरिद्रता से, बेबसी से, हर घड़ी मुंह बाये चाली आ रही असुरक्षा से मुक्ति चाहिए। इन महाजनों की कृपा से, विचौलियों से, इलालों से, यह मुक्ति कौन देगा? कोई नहीं, हमें खुद आगे बढ़कर इसे हासिल करना है।”<sup>33</sup> इस

प्रकार बेला के क्रांतिकारी व्यक्तित्व के माध्यम से संजीव ने एक नयी स्त्री चेतना की अभिव्यक्ति की है जो स्त्रीवादी होने के साथ-साथ समाजवादी भी है। इस प्रक्रिया में बेला का जानदार और असरदार व्यक्तित्व उभरकर सामने आता है।

संजीव ने भारतीय समाज में स्त्री की दुर्दशा और यातना के विषय में सोचा और लिखा है कि— “वैसे इस देश में, जहाँ तीन साल की बच्चियों तक से बलात्कार होते हैं, वहाँ क्या तो वार्जिनिटी और क्या तो उसकी कीमत।”<sup>34</sup>

एक उदाहरण जिसमें कौशल्या कहती है— “दूर-दूर तक कोई चारा न था सिर्फ देह थी और मैं थी। थैंक गॉड कि देह जवान थी और कौमार्य अक्षत फिर तुम्हारे भेजे हुए स्पांसर्स। उन्होंने सबसे पहले मेरा नाम बदला। वो कौशल्या से थोड़ा पवित्र और थोड़ा गवाँरू-गवाँरू की बू आती है। अब से तुम कौशल्या नहीं क्रिस्टीना हो। फिर चाल बदली, ढाल बदली बोली बदली, अदा बदली और इंटरनेट और चौनलों के प्रचार के चंग पर चढ़ा दिया। कोलकाता की गली की कौशल्या दुनिया भर की क्रिस्टीना हो गयी। जिसकी बर्जिनिटी की बोली लगी— सवा करोड़ पर बोली टूटी।”<sup>35</sup>



## (ख) महिलाओं द्वारा लिखित उपन्यासों में स्त्री-दृष्टि

पिछले उपाध्याय के अन्तर्गत हमने पुरुष उपन्यासकारों के उपन्यासों में स्त्री दृष्टि के विकास का मूल्यांकन कर चुके हैं। इस उपाध्याय में अन्तर्गत केवल महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में स्त्री दृष्टि के विकास की खोज की जायेगी। महिला उपन्यासकारों में सर्वप्रथम सिम्मी हर्षिता के उपन्यास 'यातना शिविर' को लेते हैं। यह उपन्यास स्त्री अस्मिता व उसके जीवन संघर्ष का जीवंत दस्तावेज है।

### यातना शिविर (1990)

इस उपन्यास में सिम्मी हर्षिता ने दहेज प्रथा को भयानक समस्या के रूप में चित्रित किया है। कथाकार ने यह भी बताने का प्रयास किया है कि ससुराल वाले दहेज कम लाने के कारण लड़की को या तो मार डालते हैं या पति-पत्नी का तलाक करवा देते हैं। तलाक के पश्चात् लड़की के माता-पिता उसके लिये पुनः वर की तलाश करते हैं, किंतु उसका विवाह किसी विधुर या तलाक सुदा लड़के से, लड़के की शर्तों के मुताबिक कर देते हैं। उपन्यास की नायिका 'दिशा' के विवाह के समय उसके ससुराल वालों ने कोई मांग नहीं रखी थी, लेकिन उनके अन्दर दहेज की चाहत विद्वमान थी। जब चंदन की माँ ने दिशा और चंदन के रिश्ते को हाँ किया तब दिशा की माता पिता को दहेज लेने का इशारा करती हुई बोली "बस हमने तो जी मकान बना दिया है। अब उसे फरनीज्ज करना, उसे सजाना सँवारना तो बहू और उसके माँ बाप का ही काम होगा।"<sup>36</sup>

विवाह के उपरान्त ससुराल वाले 'दिशा' को परेशान करते हैं। दिशा के अन्दर कोई न कोई अवगुण निकाला जाता है और उसे नीचा दिखाने का प्रयास किया जाता है— "हमारी बदकिसमती में ऐसे ही छोटे और कमीने लोगों से वास्ता लिखा था जो दुनियादारी और संबंधदारी से कोरे निकले, जो भूखे नंगें निकले, जिन्हें नहीं मालूम कि संबंधियों का मान सम्मान कैसे किया जाता है।"<sup>37</sup>

‘दिशा’ की सासू उसे पागल घोषित कर घर से बाहर निकाल देती है और अन्ततः उसका संबंध विच्छेद हो जाता है। उपन्यासकार ने स्त्री की बदलती स्थिति को दिखाने का प्रयास किया है कि नारी स्वयं आर्थिक रूप से निर्भर हो सकती है। किंतु उसके माँ बाप ही परम्परा में जकड़े होने के कारण उसे आगे बढ़ने नहीं देते। लेकिन दिशा किसी भी विषम परिस्थिति में अपना संयम नहीं खोती। विद्यालय के सहकर्मी डॉ० अचिन्त उसके समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखते हैं। किंतु जैसे ही उन्हें पता चलता है कि दिशा तलाकशुदा स्त्री है, वे विवाह करने से इन्कार कर देते हैं। डॉ० अचिन्त की रूढ़िवादी मानसिकता द्रष्टव्य है— “मैं तो हमेशा से ही विवाह विच्छेद का विरोधी रहा हूँ। यह शब्द जिस औरत के साथ जुड़ा गया मैं उसे औरत मान ही नहीं सकता। जो औरत अपना घर तोड़ फोड़ डाले उसे औरत कहूँ कैसे? आज औरत धरती नहीं आसमान बनने की कोशिश कर रही है। और इसीलिए शून्य बनकर रह गई है।”<sup>38</sup>

सच तो यह है कि आज का समाज आत्मनिर्भर लड़कियों को भी बराबरी का अधिकार नहीं देना चाहता। माँ-बाप के दबाव के चलते दिशा को मिस्टर समराग नामक विधुर व्यक्ति से दूसरी शादी करनी पड़ती है और समराग के दबाव के चलते नौकरी छोड़नी पड़ती है। लेखिका ने समाज में स्त्री पुरुष में विभेद को उजागर करते हुए सवाल किया है “क्या विवाह के नाम पर जीवन में औरत के तन की सुरक्षा ही सब कुछ है। इस सुरक्षा की जरूरत से अधिक चिन्ता ने ही उसमें जीवन को कदम-कदम पर छला है। अपने मृत पूर्वजों और अपनी आत्मा की मुक्ति के सुख के लिए माँ-बाप क्यों करते हैं अपने बेटियों का पिंडदान, पिंडे पारने का क्या कोई साधन नहीं है, उनके पास? क्यों पुरुष को अपना अतीत नकारने, छुपाने या वर्तमान को जोड़ने भूलने की जरूरत नहीं होती पर स्त्री को होती है।”<sup>39</sup>

इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास में सिम्मी हर्षिता जी ने दहेज की भयावहता, तलाक सुदा और विधवा नारी की दुर्दशा का मार्मिक चित्रण किया है।

## ऐ लड़की (1991)

यह कृष्ण सोबती का विशिष्ट उपन्यास है। इसमें लेखिका ने 'ऐ लड़की' के माध्यम से कृष्णा सोबती ने माँ-बेटी के आपसी संवाद एवं सदियों से दबी हुई नारी मन की समस्त वर्जनाओं एवं मान्याताओं को नकारा है। इस उपन्यास के माध्यम से कृष्णा सोबती जी दो भिन्न-भिन्न पीढ़ियों के बीच होने वाली बात चीत के माध्यम से कहती हैं कि माँ- जो वृद्धा होने के साथ-साथ कमर की हड्डी टूट जाने पर उठने और चलने के लिए असमर्थ है अपने जीवन के अंतिम दिनों में यह पता होने पर भी कि उसका कुछ ही समय शेष रह गया है— जीवन की सभी रंगीनियों को दुहरा लेना चाहती है। बेटी, जरा-जरा से प्रश्नों से चिढ़ जाती है किंतु उसका लगातार बोलते रहना एक तो उसकी बीमारी के कारण हुआ है और दूसरे वह अपना एक भी क्षण नष्ट नहीं करना चाहती।

कृष्णा सोबती ने उपन्यास में अम्मा और लड़की के माध्यम से समाज की उन नारियों से अवगत कराया है जो भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों गुणों से युक्त हैं और जीवन को सहजता से जी रही हैं। उपन्यास में जो स्त्रियाँ हैं (एक बूढ़ी मरती हुई माँ और दुनियाँ से कटी हुई एक विवाहिता प्रौढ़ा बेटी) जो आसानी से उसे अस्तित्ववादी मुहावरा दे सकती थीं। लेकिन बुढ़िया बेहद खुद्दार और दुनिया देखी औरत है। बीमारी और बुढ़ापा दोनों मिलकर उसे तोड़ नहीं सके हैं। वह बीमारी में चीख पुकार और हाय तौबा नहीं करती। तकलीफ बढ़ जाने पर भी उसके संबंध में बोलना गुनाह समझती है। अपने भरे पूरे परिवार की तुलना में बेटी की खातिर कुछ न होना भी उसे कभी-कभी उदासी दे जाता। जीवन के राग और उल्लास की उष्णता उसके जोर-जोर में बसी है। अपने पति को अभी भी साक्षात् देखती है। बच्चों को गोंद में लिटा उसे शहद चटाती हुई, कभी बूंद भर अनार का रस, कभी अंगूर का दाना, बच्चे ऐसे छूते ऐसे जैसे इस लीला के आगे इस दुनिया में और कुछ हो ही न। अपने माँ होने पर उसे गर्व है। तभी तो वह लड़की पर चोट करने से बाज नहीं आती। जब

लड़की उसके दर्द सहने की प्रशंसा करती है। खास तौर से अपनी कमजोरी की तुलना में वह कहती है कि लड़की तुम्हें कैसे पता चलता क्योंकि— “बच्चा जनने से ही दर्द का साज श्रृंगार पता लगता है।” .....और फिर वह विस्तार पूर्ण सृजन में निहित सुख का सत्य उसे समझती है। सृजन का सुख औरत को कुदरत में बदल देता है। बेटी के पैदा होते ही माँ सदाजीवी हो जाती है। वह किताबी ज्ञान को नकारती नहीं है लेकिन वरीयता, जीने से प्राप्त ज्ञान को ही देती है— “लड़की पढ़ने और मनन करने से बुद्धि तेज जरूर होती है, पर जीकर ही उसमें अर्थ उत्पन्न होते है।”<sup>40</sup>

फल का पुण्य जीवन का सबसे बड़ा पुण्य है और सृजन सबसे बड़ा फल। अपने इस तर्क से वह जीवन जीने को एक अर्थ देती है। इस उपन्यास में अम्मा अपनी नर्स सुमन से उसके इरादों के बारे में पूछती है और उसे समझाते हुए कहती है— “शादी के बाद किसी हाथ का झुनझुना नहीं बनना। अपनी ताकत बनने की कोशिश करना।”<sup>41</sup>

अत्यंत्र वह अपनी बेटी के साथ सिगरेट पीती है क्योंकि उसे लगता है कि जो दिल में आए उसे कर लेना चाहिए। वह उससे पूछती है— “लड़की तुम अपनी इकहरी यात्रा में क्या प्रमाणित करोगी? कुछ भी नहीं। संग-संग जीने में कुछ रह जाता है कुछ बह जाता है। अकेले में न कुछ रहता है। और न बहता है। यह संसार ही सत्य है। इसके बाहर और परे कहीं कुछ भी नहीं। लड़की..... यही लोक है जहाँ मनुष्य हाथ काम कर संवर सकता है। ऊपर घर-घर चूल्हे नहीं जलते। न ही काया में अग्नि का स्फुरण होता है। किसने देखा आँख से बैकुण्ठ धाम। कहीं और नहीं, जीने वालों का तीर्थ धाम यहीं है, यहीं है।”<sup>42</sup> इस उपन्यास में हमें ऐसी नारी पात्र के दर्शन होते हैं जो आधुनिकता से लबालब है और जिंदगी को सहजता से जी रही है। जैसे किसी इन्सान को भूख लगे और वह खाना खा ले। अम्मा का यह कथन है— “अपने लिए कोई लड़का नजर में है। ढूँढने का काम तुम्हें खुद ही करना होगा।” यह कथन उस

स्थिति को दर्शाता है जहाँ स्त्री, पुरुष के समान ही अपने इच्छाओं की पूर्ति करने में सक्षम है।

### दिलोदानिश (1993)

‘दिलोदानिश’ में कृष्णा सोबती ने दिल्ली के समग्र जिन्दगी के बीच से इन्सानी रिश्तों के एक ऐसे पहलू को उठाया है जिसका गहरा ताल्लुक मध्य युग की सामंती प्रवृत्ति से है। पुरुषों से इस पद्धति और सोच को जिन्होंने विरासत में पाया है, वे बुजुर्गों के नक्शे कदम पर चलना अपना फर्ज समझते थे। उनकी निगाह में जिन्दगी बज्में एश नहीं अपने और अपने कुल खानदान की पेशकश है।<sup>43</sup>

उस समय हैसियतमंद मर्द अपनी विवाहिता बीवी के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों से भी संबंध रखते थे। परिवार में इस विषय पर मुखिया को कोई कुछ भी नहीं कह सकता था। यदि कोई साहस भी करता था तो वह किसी की परवाह नहीं करता था। वकील साहब स्वयं अपने विषय में कहते हैं “जिस्म को राहत चाहिए होती है, पर दिलो-दिमाग भी कुछ माँगते हैं। सारा खेल सोने, खाने-पीने और घर चलाने का ही तो नहीं।”<sup>44</sup>

‘महक’ की चौखट पर पहुँच कर वकील साहब अपने सारे गम भूल जाते हैं। वे न कुटुम्ब की स्थिति को समझना चाहते हैं और न ही महकबानों को। महक को भी हमेशा रखैल होने का दर्द सताता है। वह अपने इस दर्द को वकील साहब के सामने रखती है— “घर गृहस्थी की कीमत तो बेघरों, डेरेदारों और सराय में रहने वालों से पूछिए। घर की दहलीज बाँधने को बेचारे क्या-क्या कर डाले।”<sup>45</sup> वकील साहब महक के जवाब में फरमाते हैं— “दूर के ढोल सुहावने जरूर लगते हैं पर हमेशा वैसा होते नहीं।” वकील साहब यह सब अच्छी तरह जानते हैं कि धर्म पत्नी होने के नाते ‘कुटुम्ब प्यारी’ उनकी हर चीज की हकदार है, तभी तो वह कहते हैं— “वे जो भी माँग ले, उसका हक बनता है। दूसरी तरफ महकबानों वह पाने की हकदार है, जो हम उसे

दिल से देते है या जो दिल देना चाहते है।”<sup>46</sup> परंतु कृपानारायण को पूरा एहसास है कि “किसी घटिया रईश की तरह हमने महक को ढंग का कुछ लिया दिया भी नहीं है। उधर स्त्री धन के नाम बीबी के जेवर गहने, सेरों में तुलेंगे।”<sup>47</sup>

कृपानारायण चाहते हुए भी महक के लिए कुछ भी नहीं कर पाते, क्योंकि उनके समाज के अपने तौर तरीके हैं। वकील साहब की मुहब्बत महक बानों को चाहकर भी कुछ नहीं दे सकती। क्योंकि बिरादरी की मर्यादा ने जो दर्जा विवाहिता को दिया है वह किसी रखैल को नहीं। तभी तो वकील साहब अपनी मजबूरी स्वीकार करते है— “बानो, खुदा जानता है, हमारा बस चलता तो हम हवेली में बदल देते, पर बिरादरी की अपनी मर्यादा है। सब्र कर लीजिए यह सोचकर कि बहुत कुछ इन्सान के अपने बस में नहीं हुआ करता।”<sup>48</sup>

महक और वकील साहब की बेटी मासूमा वकील व उनकी व्याहता बीबी कुटुम्ब द्वारा स्वीकार कर अच्छे घराने में उसकी शादी कर देते हैं। परन्तु मासूमा को महक की बेटी के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता। वकील ने महकबानों को विवाह में आने से भी मना कर दिया। तब “महक के अंदर छिपी पड़ी राख में चिन्गारियां सी उठने लगीं। हमारी बेटी की शादी है और उसके जेवर कपड़े बनते देखने की हमारी खुशी हमीं से छीनी जा रही है।”<sup>49</sup> इस समाज में महक बानों जैसी औरतों को मोहब्बत तो मिलती है पर सामाजिक हैसियत नहीं, जिसकी वे हकदार हैं। महक के लिए वकील साहब का कानून अंधा है उनकी नजर में न दोनों औरतें बराबर हैं और न उनके बच्चे। इस प्रकार उपन्यास के सभी स्त्री पात्र अपने-अपने तरीके से विद्रोह करती हैं। खानदानी समझी जाने वाली कुटुम्बप्यारी किसी जेवर के लिए जिद और असहयोग से या फिर चोरी छिपे और बाबा से शारीरिक संबंध बनाकर प्रतिशोध लेती है।

भारत में मुस्लिम शासन के समय धीरे-धीरे एक मिली-जुली संस्कृति विकसित हो रही थी। जिसमें कायस्थ और जमींदार विशेष रूप से प्रभावित थे। इस तबके का

खान-पान, वेश-भूषा, रहन-सहन, भाषा सब कुछ मुस्लिम संस्कृति से प्रभावित था। जहां एक तरफ इनकी पारिवारिक जिन्दगी सनातनी संहिता से निर्देशित तो दूसरी तरफ इनकी वाह्य जिन्दगी मुस्लिम संस्कृति से निर्देशित होती थी। इस मिली जुली संस्कृति से प्रभावित जिन्दगी का चित्रण कृष्णा सोबती ने 'दिलोदानिश' उपन्यास में किया है। "हवेली और फ़राशतखाना का द्वन्द्व मध्यकालीन सामन्ती मानसिकता से बहुत गहरे जुड़ा हुआ था। हवेली की अपनी संहिता होती थी जिसमें व्यक्ति की निजी भावनाओं के लिए कोई स्थान नहीं था। परिणामस्वरूप मर्द फ़राशतखाने में दिलबस्तगी करते थे और स्त्रियां परम्परागत पारिवारिक संहिता को झेलती हुई कुंठाग्रस्त जीवन जीती थीं। पुरुष के अपनी प्रेमिका के बच्चों का बाप बन जाने पर स्थिति और भी नाजुक और संघर्षपूर्ण बन जाती थी। इस प्रकार दिलोदानिश में विवाहेत्तर संतान और उसकी स्वीकृति का प्रश्न अपनी सारी जटिलताओं और तीखेपन के साथ विद्यमान है।"<sup>50</sup> इस परिवेश से जुड़ी संवेदनाओं, तकलीफों, उलझन भरी मनःस्थितियों, मनोभावों आदि का बहुत मार्मिक अंकन दिलोदानिश में हुआ है। हवेली का प्रतिनिधित्व करने वाली कुटुमप्यारी और फ़राशतखाने का प्रतिनिधित्व करनेवाली महकबानो दोनों के अंकन में कृष्णा सोबती ने अद्भुत रचनाशीलता का परिचय दिया है। विशेष रूप से महकबानो के चरित्र निर्माण में उनकी रचनाशीलता अपने उत्कर्ष पर है। महकबानों के परिस्थितिगत मानसिक द्वन्द्व को उभारने में सोबती जी को अद्भुत सफलता हासिल हुई है। उसके चरित्र की परिणति जिस तेजस्विता में होती है, उसके सामने परम्परागत पत्नी का कद बहुत छोटा हो जाता है। पारिवारिक संहिता, पत्नी और प्रेमिका के बीच झूलता कृपा नारायण का चरित्र भी बहुत जोरदार और अपनी परिणति में अत्यन्त करुण है।

### छिन्नमस्ता (1993)

प्रभा खेतना का उपन्यास 'छिन्नमस्ता' स्त्री की भयावह यंत्रणा की गाथा है। उपन्यास का परिवेश मारवाड़ी समाज है। पर प्रिया की कथा किसी भी समाज की स्त्री

---

द्वितीय अध्याय पृष्ठ संख्या – 118

की हो सकती है। सम्पन्न परिवार में भी स्त्री नियति अश्रुपूरित ही है। छिन्नमस्ता का शाब्दिक अर्थ है 'जिसका मस्तक कटा हो।' छिन्नमस्ता एक मिथक भी है तो एक पौराणिक रूप भी। अपना ही कटा हुआ सिर अपने बाँये हाथ में लिए हुए, मुँह खोले और जीभ निकाले, अपने ही गले से निकली हुई रक्तधारा को चाटती हुई, हाथ में तलवार लिए, मुण्डों की माला धारण किये और दिगंबर एक देवी, इस मिथक को शीर्षक के रूप में अपनाकर प्रभा खेतान ने अपने विजन का रहस्य खोल दिया है। उनके विजन में आधुनिक नारी का यही बिम्ब है, जिसे उन्होंने अपने उपन्यास की केन्द्रिय पात्र प्रिया के माध्यम से प्रस्तुत किया है— "मैंने दुःख झेला है, पीड़ा और त्रासदी में झुलसी हूँ जिस दिन मैंने त्रासदी को ही अपने होने की शर्त समझ लिया उसी दिन उस स्वीकृति के बाद मैंने खुद को एक बड़ी गैर ज़रूरी लड़ाई से बचा लिया, कुछ के प्रति मेरा यह समर्पण था सारे जुल्मों के सामने .....सलीब पर लटकते मैंने पाया कि मैं अब पूरी तरह जिन्दगी की चुनौतियों का सामना करने को तैयार हूँ।"<sup>51</sup>

'छिन्नमस्ता' के संदर्भ में प्रभा जी ने कहा है— "इस उपन्यास में मैंने एक एच को अभिव्यक्त करने की चेष्टा जरूर की है। पाठकों एवं आलोचकों के बहुतेरे सवालों में सबसे महत्त्वपूर्ण सवाल यह रहा है कि, यह स्त्री कौन है ? और अंततः यह किस स्त्री का सच है ? इस उपन्यास को लिखते समय मेरी आँखों के सामने वे सारी लड़कियाँ थीं जिनके साथ ऐसा ही कुछ घटा होगा। मैं स्वयं भी थी, एक लड़की के रूप में अपनी लेखकीय निगाहों के सामने। वैसे मैं ज़रूरी नहीं समझती कि उपन्यास में अभिव्यक्त सच को किसी व्यक्ति विशेष के साथ जोड़ा जाय। अपने आप में 'प्रिया' एक घटना है, छिन्नमस्ता होते हुए भी जिन्दगी की जद्दोजहद से जुड़ी हुई।"<sup>52</sup>

उपन्यास की केन्द्रीय पात्र प्रिया को जीवन में सच्चा मोह एवं सहयोग मिलता है। वह है— दाई माँ और विदेशी दम्पति फिलिप और जूडी, साथ ही अपनी ननद नीना। प्रिया अपने परिवेश से, स्त्री से जुड़ी हुई हर समस्याओं से संघर्ष करती हुई



आर्थिक रूप से भी स्वावलम्बी हो जाती है। वह कहती है कि “मेरे साथ मेरा अकेलापन है पर यह अकेलापन मुझे जीवन का अर्थ समझा रहा है। कैसे मैंने अपने आपको बचाया है, अपने मूल्यों को जीवन में सजोया है, हाँ टूटी हूँ, बराबर टूटी हूँ .....पर कहीं चोट के निशान नहीं..... दुनिया के पैरों रौंदी गई पर मैं मिट्टी के लोंदे में परिवर्तित नहीं हो पाई हूँ। अड़तालिस की इस उम्र में एक पूरी की पूरी साबुत औरत हूँ, जो जिन्दगी को झेल नहीं रही बल्कि हँसते हुए जी रही है, जिसे अपने उपलब्धियों पर नाज़ है।”<sup>53</sup>

### माई (1993)

गीतांजलि श्री का एक लघु उपन्यास ‘माई’ 1993 में प्रकाशित हुआ। इसमें नयी पीढ़ी से पुरानी पीढ़ी का मोहभंग व्यक्त हुआ है। उपन्यास की पात्र सुनैना कहती है कि— मुझे माई नहीं बनना, मैं माई वैसे भी नहीं बनूंगी..... मैं चाहूँ भी तो माई नहीं बन सकती, वह सिफत नहीं मुझमें, मैं माई को झकझोर के झटक देती हूँ, अलग, मुझे त्याग बुरा लगता है क्योंकि माई का बोझिल इतिहास है.... मुझे उसकी तरह नम्रता एवं उदारता को अपराध नहीं बना देना है, उसके इतिहास से लड़ना है उसे नकारना है और इसलिए लेना है, लेके पाना है।

### अपने अपने चेहरे (1994)

‘अपने अपने चेहरे’ में प्रभा खेतान ने स्त्री नियति के दूसरे पहलू को परिभाषित करने का सार्थक प्रयास किया है। औरत को लेकर प्रभा जी के पास कुछ बोध प्रश्न और निष्कर्ष हैं, जो प्रस्तुत उपन्यास में गहरी संवेदना के साथ अंकित हैं। प्रभा जी मानती हैं कि, विवाह, पति, बच्चे आदि से परे ही स्त्री का अपना अस्तित्व है और जिन्दगी का मकसद पूर्ण पुरुष की तलाश ही नहीं बल्कि अपनी भी सार्थकता है। उपन्यास की नायिका रमा सोचती है कि “वह प्यार तो एक बार करती है। बस एक बार। एक ही पुरुष से। कभी शादी से पहले, कभी शादी के बाद, इसके बाद तो वह

अपने आप को झेलना सीखती है। रमा का दर्द उसके शब्दों में इस प्रकार समझा जा सकता है— मेरा परिचय क्या है? इस उम्र में किसकी पत्नी? किसकी माँ? किसकी बहू? मौनसधवा या विधवा। अपनी ही तस्वीर इतनी धुँधली क्यों लगती है?”

रमा एक विवाहित और बाल बच्चेवाले पुरुष से प्रेम करती है और स्त्री के लिए किसी पुरुष का दोस्त होना परंपरागत किसी भारतीय समाज में स्वीकार नहीं है। यदि उसे समाज में स्वीकृति पानी है तो उसका 'पत्नी' होना अनिवार्य है। 'दूसरी औरत' को न तो अर्द्धांगिनी का दर्जा मिलता है और न ही उसके मांग में सिंदूर होता है। जिसके कारण उसे वाजिब अधिकारों से वंचित रहना पड़ता है। रमा के रूप में दूसरी औरत की पीड़ा का अन्तर्द्वन्द्व प्रस्तुत उपन्यास का केन्द्रीय विषय है।

### **इदन्नमम् (1994)**

मैत्रेयी पुष्पा का उपन्यास 'इदन्नमम्' तीन पीढ़ियों की स्त्रियों की एक सूत्रात्मक कथा है। यह उपन्यास चरित्र प्रधान है। इसके केन्द्र में अल्पशिक्षिता मंदाकिनी है। यह सिर्फ मंदा की दुःख, निराशा वेदना और संघर्ष की कथा नहीं है, उसके माध्यम से शोषितों के उत्पीड़न, संघठन और संघर्ष की सशक्त कलात्मक अभिव्यक्ति है। राजेन्द्र यादव जी कहते हैं कि मंदा की लड़ाई दुहरी है— “औरत होने की और वंचितों के अधिकारों की। लेखिका की शोषितों और स्त्रियों की पक्षधरता उभरी है।” इस उपन्यास की प्रमुख पात्र बऊ, मन्दा, कुसुम अपने तरीके से विद्रोह करती हैं, ये स्त्रियाँ पुरुष प्रधान समाज से टक्कर लेती हैं। बऊ महेन्द्र सिंह की हत्या के बाद लुटेरे रिश्तेदारों से बचने के लिए संघर्ष करती है तथा मन्दाकनी की अनेक आपदाओं से रक्षा करती है। समाज की दृष्टि से लाक्षिता प्रेमा रतन यादव का हथियार बनने से साफ इनकार करती है, अभिलाख सुगना से बलात्कार करता है तो सुगना उसकी हत्या कर देती है। कुसुमा और प्रेमा मौन क्रान्ति करती हैं। मकरन्द के प्रति अनुरक्त मन्दा व्यष्टि दुःख का समिष्ट में विलय करती है मकरन्द से उसकी सगाई टूट जाती है। मुँह बोले मामा के

बलात्कार की शिकार बनती है फिर भी उसका व्यक्तित्व कुंठित नहीं होता बल्कि उसमें एक जुझारू दृढ़ता पनपती जाती है। लेखिका यह संकेत देती है कि जब तक मनुष्य अपने व्यक्तिगत दुःख का घेरा तोड़कर बाहर नहीं आता तब तक उसे मुक्ति नहीं मिलती। कथा नायिका मन्दा की यातना दो स्तरों की है, .....एक तो स्त्री होने के नाते सिर्फ उपभोग की वस्तु समझी जा कर बलात्कारित होती है और दूसरी दुर्बल एवं असहाय होने के कारण सामान्य शोषण की शिकार भी बनती है। इस प्रकार संघर्ष करते हुए उसके अन्दर रानी लक्ष्मीबाई जैसा साहस दिखायी देती है और साथ ही लोक कल्याण की भावना भी। सच्चे अर्थों में मन्दाकिनी औपन्यासिक शीर्षक इदन्नमम् अर्थात् यह ऊर्जा शक्ति समूचा जीवन ही दूसरों के लिए है— को सार्थक करती है।

### अपने—अपने कोणार्क (1995)

इस उपन्यास में चन्द्रकान्ता ने कुनी, सिद्धार्थ और अनिरुद्ध के माध्यम से एक वितान तैयार किया है। कुनी आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर एवं मुक्त विवाहेत्तर संबंध में विश्वास करने वाली युवती है। कुनी परिवार की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए खुद का खयाल भी नहीं रख पाती। घर—परिवार के लोगों ने आत्मनिर्भर कुनी के विवाह को बहुत गहराई से नहीं लिया। छोटी बहन के बच्चे को पाकर उसका मातृत्व जाग उठा। वह अन्तर्मन में सोचती है “कहीं मति (उसकी छोटी बहन) को मेरे भीतर उठी प्यास का अंदाजा न लगे। .....गुलाब की पत्तियों जैसे होठों की छुअन ने मेरे भीतर के मातृत्व को अजीब सी चुनौती दी थी और भीतर ही भीतर ढह गई थी।”<sup>54</sup>

कुनी एक सम्मानित अविवाहित लेक्चरर है। वह अपने आप में समर्थ युवती है, लेकिन उसका अविवाहित होना उसकी कमजोरी है। कृत्सित पुरुष दृष्टि हमेशा स्त्री को कामुकता के अनुसार ही देखती है। अस्वस्थ हो जाने पर जब वह मरीज के तौर पर डाक्टर के पास जाती है तो डाक्टर की कामुकता जाग जाती है। “वह पागलों की तरह मेरे जिस्म पर जगह—जगह चिकोटियाँ काटने लगा। .....यू आर ए ब्यूटीफुल वोमेन, उसके शब्द मुझे अश्लील लगे। उसके गंदे होंठ मुझे छुए, इससे पहले ही मैंने

उसकी कलाई में दांत गड़ा दिए, यू विच! .....वह एकदम से छिटककर अलग हो गया।<sup>55</sup>

कुनी सिद्धार्थ नामक युवक से प्रेम करती है किन्तु वह उससे विवाह नहीं कर पाती है। उसका विवाह 'अनिरुद्ध नामक युवक से हो जाता है। वह प्रेमी और पति दोनों के साथ सामंजस्य बनाए रखना चाहती है। प्रेमी के साथ मन से तो पति के साथ तन से "अनिरुद्ध यदि पुरी तट पर घूमने का प्रस्ताव रखता तो जरूर मैं वहां की रेती पर सिद्धार्थ के पैरों के निशान खोजने लगती, मन को जबरन रोकना मैंने छोड़ दिया है। सिद्धार्थ के बारे में यही बात तो सच है, क्योंकि वह अंतरंग मित्र बनकर मेरी यादों में रच गया है। देर से हितैषियों की पंक्ति में खड़ा देह से पार, देह तो मैं अनिरुद्ध को सौंप रही हूं और मन ? किसी एक व्यक्ति तक महफूज नहीं रखा जाता। यह बात मैंने समझ ली है।"<sup>56</sup>

कुनी, प्रेमी को शादी के बाद भी स्मृतियों में संजोये रखती है, उसकी भावात्मक उपस्थिति को जीती है, जबकि 'अनिरुद्ध' तथा बच्चों के साथ वह खुशहाल ज़िंदगी जीना चाहती है। इस दोहरी भूमिका में वह घुटन नहीं महसूस करती। वह स्वयं को दो खानों में बांट अपने आप को दोषी नहीं मानती। वह अपने विवाहेत्तर संबंध को खुलेमन स्वीकार करती है।

### निष्कवच (1995)

राजी सेठ के उपन्यास 'निष्कवच' में दो वृत्तान्त हैं। पहले वृत्तान्त की नायिका नीरा आज़ाद विचारों वाली लड़की है। वह अपनी ज़िंदगी में जो पाना चाहती है उसे जरूर पाती है। वह अपने मन की मालिक है। विशाल की मौसेरी बहन नीरा उनके घर पर ही रहती है। विशाल और नीरा का एक कमरा, जब विशाल छोटा था। तब उसे अपने कमरे और अपने माँ-बाप से बँटते प्यार के हिस्से को बरदाश्त करना मुश्किल था। विशाल की माँ नीरा को अपनी बेटी की तरह प्यार करती थी। तो उसे पढ़ने

लिखने की तरफ ध्यान लगाने को कहा परंतु सब बेकार। नीरा विशाल के दोस्त बासु के प्रति आसक्त थी। विशाल ने उसे बताया कि बासु उसके लिए ठीक नहीं है। परंतु नीरा ने उसे चुप करवा दिया। विशाल ने जब इस विषय पर बासु से बात की तो उसने नीरा से विवाह करने से इंकार करते हुए कहा कि वह अभी बच्ची है। विशाल और उसकी माँ भी इस रिश्ते के विरुद्ध थे। परंतु जब विशाल ने स्वयं माँ से इस रिश्ते के लिए कहा तो उसे साफ इंकार कर दिया।

दूसरे वृत्तान्त में विदेशों में रहने वाले भारतीयों को जिन-जिन समस्याओं का सामना करना पड़ता है, इसे दर्शाया गया है। उपन्यास का नायक जब अमेरिका जाता है तो कोई ढंग का काम न मिलने के कारण उसे चीप लेबर की नौकरी करनी पड़ती है। परंतु भारत में अपने परिवार जनों को उसने अच्छी नौकरी के विषय में बता रखा है। विदेश में उसे हर समय अपने घर की याद आती है— “एक पूरा देश है जो मेरी चेतना में ठुँसा-ठुँसा रहता है। एक पूरी संस्कृति एक पूरा समाज करने धरने की एक पूरी पद्धति।”<sup>57</sup>

### कठगुलाब (1996)

1996 में प्रकाशित मृदुलागर्ग के उपन्यास में पाँच खण्ड हैं। प्रत्येक खण्ड को कथावाचिका आत्मविश्वास से अपनी कहानी और अपने जीवन के निष्कर्ष को प्रस्तुत करती है। इस उपन्यास में स्त्री प्रचलित मान्यताओं के सारे फ्रेमवर्क तोड़कर, अपना पृथक् फ्रेमवर्क स्वयं गढ़ती है। चार कथा वाचिकाएं स्मिता, मरियान, नर्मदा और असीमा एक पुरुष पात्र विपिन से धनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं।

सभी स्त्रियाँ भिन्न-भिन्न परिवेश की हैं। किन्तु एक ही प्रकार की यातना सूत्र में पिरोई गई हैं। असीमा, स्मिता, मध्यवर्गीय एवं सुशिक्षित हैं। जबकि मरियान अमेरिका की सम्पन्न परिवार की मेधावी, कर्मठ एवं संवेदनशील महिला है तो नर्मदा, असीमा व नमिता की नौकरानी है। नर्मदा अभावग्रस्त, अशिक्षित एवं अनाथ है। नर्मदा तथा स्मिता

तीसरी दुनिया के दोहरे शोषण एवं दोहन की शिकार बनी है। विकसित प्रबुद्ध देश अमेरिका की रहनेवाली मरियान भी पुरुष शोषण का शिकार होती है। इसलिए सोचती है कि “हर औरत में जुल्म उठाने की महारत देखी जा सकती है कि सॉफिस्टिकेटेड से सॉफिस्टिकेटेड औरत भी कहीं न कहीं एक मामूली किसान औरत की तरह कलपती पायी जाती है।” समाजशास्त्री मरियान का यह कथन हर देशकाल के स्त्री जीवन का सार है।

‘कठगुलाब’ की स्त्री में देह-द्वन्द्व, बुद्धि-द्वन्द्व, अस्मिता द्वन्द्व और अपने सम्पूर्ण स्त्री मानव होने का द्वन्द्व तो है, मगर कठगुलाब की स्त्रियाँ पुरुष समानता की खोज न होकर स्त्री को स्त्री के रूप में ही रखने की एक महती प्रयास हैं। समानता, प्राथमिकता, प्रोत्साहन जैसे शब्द छोड़कर वह अपनी पहचान स्त्रीलिंग को जाहिर करती हैं। साइमन द बोउवार की तरह सेकण्ड सेक्स कहलाने की पीड़ा से मुक्ति के लिए स्त्री को सेकण्ड सेक्स के रूप में न रहकर प्रकृति सादृश्य संरचना मानकर जीना चाहती है। इसीलिए वह प्रेम भी करती है, पत्नी या प्रेमी अथवा संस्था के विरुद्ध विद्रोह भी करती है। पुरुष हिंसा का प्रतिकार भी करती है और प्रतिशोध के लिए स्त्री छवि को तोड़े बगैर तत्पर रहती है। मरियान एक और स्त्री है जो स्मिता का कथागत विस्तार न होकर अलग व्यक्तित्व लेकर खड़ी होती है। जहाँ स्मिता का अस्तित्व कठगुलाब है जो शादी के पहले आत्ममुग्ध भाव से मुक्त थी और शादी के बाद उसमें उसकी ही स्त्री को निरवस्त्र करने का एक अजूबा है। जिसमें उसकी देह ही नहीं बल्कि उसका मन, स्मृति, चेतना, अर्द्धचेतना सब निरवसन पड़े हैं और वह बदल जाती है कृतज्ञता की कठपुतली में।

उपन्यास की तीसरी स्त्री नर्मदा एक निरीह निर्बल स्त्री होने के साथ भारतीय संस्करण के अन्तर्गत आती है। तो असीमा उसी संस्करण से मुक्ति का ऐलान। नर्मदा एक नौकर औरत, एक पत्नी औरत, एक छुब्ध और बीमार औरत की प्रतिरूप है जो प्रतिदिन पीड़ित होते हुए भी चुप रहती है।

उपन्यास का चौथा स्त्री खण्ड असीमा है। जो उसके सामने एक माँ की एक मूरत है जिसे उसने अपने अन्दर तोड़ डाला है। वह फेमिनिस्ट नहीं फीमेल होने के विरुद्ध है क्योंकि उस फीमेल में भी उसे उसकी माँ की तरह औरत नज़र आती है। स्मिता पुरुष प्रकृति के विरुद्ध आवाज बुलन्द करती है। यहीं तक नहीं वह पुरुष को पूँछ बधे पशु की तरह मजबूर कर देने की हद तक ले जाती है। इसलिए कि पुरुष के अन्दर से ही पैदा हुआ है नारी का तिरस्कार, नारी के साथ बलात्कार।

उपन्यास 'कठगुलाब' का अन्तिम खण्ड जो पुरुष खण्ड है। विपिन मजूमदार नाम का यह पात्र असीमा और नीरजा के बीच जीता है और बूढ़ा हो जाता है। देह से बूढ़ा जरूर है, लेकिन तर्क और त्वरा से नहीं कठगुलाब के पाँचों खण्ड स्वतंत्र कहानियों के रूप में पढ़े जा सकते हैं। इसमें कुछ बोल्ड किस्म के शब्द शिल्प का प्रयोग किया गया है। उपन्यास में सांस्कृतिक शील के विरुद्ध एक प्रश्न, पुरुष स्त्री के लिए और स्त्री-पुरुष के लिए प्रस्तुत किया गया है। "इस उपन्यास की हर स्त्री अपने-अपने तर्कों, विचारों एवं सामर्थ के अनुसार जुल्म के विरुद्ध हथियार उठाती है। इसलिए कठगुलाब स्त्रीवादी उपन्यास कहलाता है।"<sup>58</sup>

## मौसी (1997)

रमणिका गुप्ता के उपन्यास 'मौसी' में दलित आदिवासी स्त्री के जीवन का विशद वर्णन है। मौसी उपन्यास की नायिका का जीवन त्रिकोणात्मक है। उसने कभी पत्नी और माँ के रूप में नहीं जिया, उसका जीवन रखनी और धाय के रूप में ही बीता। जवानी में ही मौसी ने माँ के जैसा काम संभाल लिया था और बन गई थी मौसी। उसके चरित्र को उजागर करने के लिए यह उद्धरण उपयुक्त है— "कई घर बदले थे फुआ ने। कई फुफा भी बदले। सबने उसे प्यार भी दिया। फुफा बदल सकते हैं पर फुआ नहीं बदलेगी। वह मोहना, सलीम, शहजादा, मौलवी और भगवान सिंह के लिए जीती रही अब तक। अपने लिए जीने का अवसर उसे कहाँ मिला था। कभी

दूसरों के लिए ही उने सपने सँजोए। अपने लिए तो एक सपना था बारात आएगी, दूल्हा होगा। सो उसके बिना ही सब कुछ हो गया। दूसरा सपना था माँ बनने का वह भी मोहना (मौसी के भाई का बेटा, जिसे उसने अपनी भाभी से बचपन में ही माँग लिया था।) से पूरा हो ही जा रहा था।” मौसी तो आदिवासी समाज की मुक्त महिला थीं। जवानी उसके लिए अहम थी। यह मूल्यों का आदर ही उसका परिचायक है। यही आदिवासी समाज को दूसरों से अलग करता है।

मौसी की दोहरी जिंदगी एक त्रिकोण में घूमती रही। सली—अब्बा—शहजादा। उसका ठहराव बह निकला था इसलिए अब वह सवालों के दलदल में फिर नहीं फँसना चाहती थी। वह बस जीना चाहती थी। उसकी जिंदगी का वह वरक उलट गया। अध्याय तो रोज बदलने हैं, हर औरत का जिंदगी में। उसने अपनी जवानी के दिन गला दिए उस बूढ़े मौलवी की सेवा में, शहजादे को पालने में और सलीम के इंतज़ार में। “आदिवासी महिला क्षण जीवी होती है। मौसी भी उसी प्रकृति की थी। कल की चिंता वह कभी नहीं करती थी। देखो क्या होता है। अभी तो भाई—भाभी पर भरोसा है। मोहना पढ़ ही रही है। कल की कल देखेंगे। प्रेम उसने सलीम से किया था बस अब फिर प्रेम ही करना चाहती थी। अब वह चालीस पार कर रही थी। इस उम्र में अकेलापन अधिक खलता है। अपना कोई बच्चा भी नहीं था। मोहना पर जान देती थी। “मौसी सलीम की प्रेमिका, सलीम की माँ सलीम के बाप मौलवी की बीवी और भगवान सिंह की रखैल बनी थी। उसे सभी ने छला था, साथ ही मोहना को भी अपना बनाना चाहा। परंतु उसके बिरादरी वालों ने माधो पर हमला किया। माधों मौसी के प्रेमजाल से हार गया। मौसी ने उसके बाद निर्णय किया था। खुद गढ़ेगी वह अपना भविष्य, औरत जात का भविष्य। वह तो जन्मजात माँ है। ममता उसकी रग में भरी है। वह थोपती रही सबको आज तक, अब वह पोसेगी उन्हें जिन्हें उसकी ज़रूरत है।”



उपन्यास का अंत सुखात्मक है साथ ही नए विचारों से पुष्ट है। “भगवान सिंह अंत में उसे मिल जाते हैं क्योंकि मौसी के बिना भगवान सिंह का अब कोई नहीं। रुपयें पैसे के बिना तो चल, न तू बड़ जात, न हम छोट जात दोनों मंजूर।”

### एक पत्नी के नोट्स (1997)

ममता कालिया ने इस उपन्यास में स्त्री पुरुष सम्बन्धों को प्रकट करने का प्रयत्न किया है और यह दिखाया है कि प्यार जब विवाह का रूप ले लेता है तो उसका रंग फीका पड़ जाता है। परंपरागत धार्मिक, नैतिक संहिताओं के चलते मध्यवर्गीय दाम्पत्य जीवन के नरक बनने, उच्चवर्गीय दाम्पत्य जीवन के खोखलेपन और संवेदनहीनता, पतियों की कमीनी हरकतों का चित्रण भी उपन्यास का प्रमुख विषय है।

संदीप और कविता के प्रेम विवाह के बावजूद संदीप हमेशा कविता को नीचा दिखाने का प्रयत्न करता है। जब अखिल, भार्गव और नीलिमा उसके घर पर खाने आते हैं तो लड़कियों की नायिका और खलिनायिका के रूप को लेकर बहस होती है। संदीप कहता है— “असल दुनिया में नायिका एवं खलनायिका अलग-अलग लड़कियां नहीं होती हैं। एक ही लड़की अपने जीवन में नायिका की तरह प्रवेश करती है और खलनायिका की तरह स्थापित हो जाती है। मेरा तजुर्बा है कि आमतौर पर पत्नी दिन में खलनायिका और रात में नायिका की तरह पेश आती है।”<sup>59</sup>

वह कविता पर हमेशा शक करता है। एक दिन जब अतिरिक्त पीरियड लेने के कारण घर पर भोजन के समय नहीं पहुंचती, तो क्रोध प्रकट करते हुए कहता है— “उम्मीद है, कालेज के दोस्तों के साथ लंच तुम्हें बढ़िया लगा होगा। मैं वापिस जा रहा हूँ।”<sup>60</sup>

कविता व्रत त्यौहार में विश्वास नहीं करती। हरितालिका तीज के अवसर पर संदीप और कविता रस्तोगी साहब के यहां जाते हैं। वहां संदीप रस्तोगी साहब की

पत्नी को ब्रत रखा देखकर कविता से कहता है— “तुम इतनी परंपरा शून्य क्यों हो गई हो ? तुम सिर्फ लड़ना जानती हो। हिन्दुस्तान की सारी औरतें आज पति के खातिर निर्जल—निरंक पड़ी हैं और तुम प्रेत की तरह मेरे पीछे लग गई।”<sup>61</sup> प्रस्तुत उपन्यास द्वारा वैवाहिक जीवन की वास्तविकताओं को दर्शाने का प्रयास किया गया है।

### कलिकथा वाया बाईपास (1998)

अलका सरावगी का प्रथम उपन्यास है। मारवाड़ी एवं बंगाली समाज के सांस्कृतिक द्वैत में स्त्री के पिछड़ेपन पर अफसोस प्रकट किया गया है। चूंकि उपन्यास का कथानक 1947 से 1997 तक फैला हुआ है और बंगाल उस समय बौद्धिक प्रसार का सबसे बड़ा केन्द्र था। ऐसे में बंगाल में रहने वाली स्त्रियों का पिछड़ापन खटकता है— “बंगाल में रहते हुए भी मारलवाड़ी औरतें कितनी पिछड़ी हुई हैं, घूँघट, भारी जरीदार साड़ी और परंपराओं के भारी बोझ को लादे, वे मुक्ति की कल्पना ही नहीं कर पाती। कलिकथा की निर्मिति का एक पक्ष यह दृष्टि भी है जो स्त्री मुक्ति का प्रश्न भी उठाती है। क्या स्त्री गुलाम है ? क्या वह हमारी परंपरा के बोझ से खुद को मुक्त नहीं कर सकती ? किशोर बाबू की विधवा भाभी, उनकी सुन्दरी मामी की भी यही नियति है जो अपना प्रतिरोध जीते—जी दर्ज नहीं करा पाती। मामी को तो आत्महत्या करनी पड़ती है, क्योंकि उनका पति परस्त्रीगामी, वैश्यागामी है, उसे जीते जी झेलने के शिवाय कोई चारा नहीं है।”<sup>62</sup> उपन्यास की आलोचना करते हुए विद्वत जनों ने प्रश्न उठाया है कि नियति यातना झेलती नारी के समानान्तर कुछ ऐसी आधुनिक स्त्रियों को उपन्यास में जगह क्यों नहीं दी गयी जो स्त्री मुक्ति का पर्याय दिखतीं।

### अनादि अनंत (1998)

‘अनादि अनंत’ मधु माधुड़ी का उपन्यास है। कलेवर की दृष्टि से छोटा होने के बावजूद भी इसमें स्त्री जीवन की उन विडम्बनाओं को उकेरा गया है, जो उसे उत्पीड़क बनने को प्रेरित करते हैं। विश्व चाहे कितना भी विकास कर ले, फिर भी स्त्री के प्रति एक आम धारणा यह बनी हुई है कि उसका संसार उसकी दुनिया, घर

परिवार, रिश्तेदारों को पकड़ कर बैठने में ही है। नारी शोषण के इसी रूप से अनादि अनंत की कमली ग्रसित है। उसके अंदर की रचनात्मकता और व्यावहारिकता को अनदेखा कर उसे घर के चूल्हें-चक्की में खदेड़ दिया जाता है। गुड़िया के खेल से ज्यादा गणित के सवालों के सुलझाने में रुचि रखने वाली कमली घरेलू समस्याओं में उलझ जाती है। लेखिका के द्वारा व्यक्त यह भयावह सत्य कि पुरुष वर्चस्व के चलते सदियों से स्त्रियाँ मानसिक और शरीरिक रूप से प्रताड़ित होती थीं और आज भी पीड़ित हो रही हैं। पुरुष वर्चस्व का विकृत रूप चौधरी में है। जब भी चौधरी कुण्ठित होता है, इस कुण्ठा को वह कमली के ऊपर उतारता है। एल0एल0बी0 की परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने पर वह दुखी होता है ससुराल में उसकी नाक कट जायेगी। यह सोचकर वह परेशान हो उठता है, अपनी कायरता को दूर करने की क्षमता उसमें नहीं थी। पति के आने के पहले पत्नी सो जाय, अपनी इस बेइज्जती की बदला वह तुरंत लेता है। “घने बालों को एक मुट्ठी में मरोड़ते हुए दूसरी से दो चार घूंसे लगा दिया। इससे पहले कि कमली रोती या चिल्लाती, उसकी शरीर पर कुछ टँगें हुए, कुछ चिपके हुए कपड़ों को पाशविक बल से चीर फाड़कर अलग कर दिया। इसी आवेग से अपनी भूख मिटाते हुए कमली को तोड़ मरोड़ कर रख दिया।”<sup>63</sup>

बलात्कार से चौधरी के आत्म सम्मान को राहत मिली या नहीं, मगर कुछ पलों के लिए असहायता की भावना से मुक्ति मिल जाती है। स्त्री जीवन की यह कैसी विडम्बना है कि उसे स्वयं अपने पति द्वारा पीड़ित होना पड़ रहा है। इस संदर्भ में अल्बर्ट कामू के विचार बहुत सार्थक प्रतीत होते हैं— “हमारी गर्दन किसी के पांव तले दबी हो और हम विरोध की एक आवाज भी न निकालें तो उसका सीधा अर्थ यह है कि शोषण में हमारी भी भागीदारी है। अधिकांश स्त्रियाँ शोषण, मानसिक प्रताड़ना, शरीरिक यातना आदि सह लेती हैं। लेकिन शोषण के तरीके वह भूलती नहीं हैं, कमली की भोगवासना भी आँसू लिए हुए है। इसी का परिणाम है चौधरी के तीन बच्चे। स्त्री और पुरुष के दैहिक रिश्तों को झुठलाया नहीं जा सकता। परंतु स्त्री पुरुष के संबंधों में

देह से परे भी एक रिश्ता होता है, वह है स्नेह और आत्मीयता का जो सभी पति-पत्नियों में नहीं होता। कमली और चौधरी के बीच कोई आत्मीय संबंध नहीं है फिर भी चौधरी की मृत्यु पर वह आडम्बरपूर्ण ढंग से पति के अन्तिम संस्कार करने का निर्णय करती है। पति की बेरुखी की शिकार कमली अस्त-व्यस्त होने पर भी ससुराल नहीं छोड़ती। उच्च पद पर तैनात अपने जीजा की सहायता से चौधरी के मूर्ख भाइयों की जायदाद चौधरी के नाम करवा लेती है। यह उसका आर्थिक स्वावलंबन का दृष्टिकोण छल से पूरा हुआ लेकिन अच्छा है। कमली का वर्तमान अतीत की तुलना में ज्यादा संपन्न है, आज उसके परिवार में बेटों के साथ बहुएँ भी हैं।

कमली का नया गढ़ा हुआ चरित्र शोषण का रूप धारण कर लेता है। कमली चाहती है कि सत्ताईस साल पहले वह जिस मकान में बहू बनकर आई थी और जिन यातनाओं को उसने सहा था उसी तरह उसकी बहू भी उसी मकान में रहे और उसी की तरह यातनाओं को सहे। कमली के आदेशानुसार उसकी बहू महीने की पूरी तनखाह पति प्रदीप के हाथों सौंप देती है और पैसे-पैसे के लिए मोहताज होती है।

दफ्तर का काम और पारिवारिक समस्याएँ रेनु को हाशिए पर डाल देती हैं। अपना एक भरा-पूरा परिवार होने के बावजूद वह अकेली है। रेनु का पति जीवन की संवेदनाओं को रौंदने वाला एक दरिंदा है। पत्नी को मारना पीटना वह पुरुषत्व की निशानी मानता है। पति के दैहिक शोषण को रेनु सहती जाती है। रेनु के रोने की आवाज सुनकर कमली को गुस्सा आता है। वह सोचती है “यह रोना कैसा? इन्हीं दीवारों से घुट-घुटकर आँसू पिए थे मैंने तो; इस चुडैल को सिसककर रोने की छूट किसने दी।”<sup>64</sup>

एक स्वतंत्र आत्मनिर्भर स्त्री की यह स्थिति है तो अशिक्षित पराश्रित स्त्री की अवस्था क्या हो सकती है, मधु भाधुड़ी ने कमली के चरित्र को नये ढंग से तराशा है। एक बार कमली बीमार पड़ती है। बीमारी की अवस्था में भी वह अपना रैब नहीं

छोड़ती। रोगग्रस्त कमली को ऐसा बोलते सुन बेटे सोचते हैं कि कमली बेहोशी की अवस्था में बड़बड़ा रही है। मगर रेनु जानती है कि “यह अवचेतन धारा है जो सदियों से बहती आ रही है और अनंत बहती चली जाएगी। इस तरह अनादि अनंत का कथ्य बहुआयामी है। इसे प्रस्तुत करने के लिए मधु जी ने यथार्थ शिल्प को अपनाया।

## आवां (1999)

बीसवीं शदी के अन्तिम चरण का यह उपन्यास स्त्री शोषण की महागाथा है। इसमें स्त्री के वैज्ञानिक व्यवस्थित शोषण के षड्यंत्र का पर्दाफाश हुआ है। यहाँ नमिता की कोख खरीदने का संजय का षड्यंत्र पुराणकालीन माधवी की दुर्दान्त कहानी की याद दिलाता है। पश्चिम में स्त्री की कोख के विज्ञापन का बोलबाला है तो हमारा समाज ही पीछे क्यों रहे। निःसन्तान संजय कनोई नमिता से अपना बच्चा पाने के लिए अपार धनवर्षा करता है। एजेन्ट अंजना वासवानी नमिता को सुनियोजित जाल में फँसाती है। इस संदर्भ में मुद्गल जी की यह तीखी टिप्पणी द्रष्टव्य है— “कोख को इच्छा से उधार देने (गौतमी के संदर्भ में) या उसके लिए छल द्वारा उपयुक्त होने की अवमानना आज के युग की देन है।”<sup>65</sup>

आवां की केन्द्रिय पात्र नमिता के माध्यम से जिस स्त्री विमर्श को प्रस्तुत करता है उसका सूत्र आसानी से सीमोन द बाउवार की ‘द सेकेण्ड सेक्स’ और महादेवी वर्मा की ‘शृंखला की कड़ियाँ’ से जुड़ता है। नारीवाद अपने को समर्थ बनाने के काम आये तो वरेण्य है, केवल नारे उछालने भर से स्त्री की सामाजिक स्थिति नहीं बदल सकती। परिवार समाज और राष्ट्रहित के दायित्वों से विमुखता और निरंतर व्यक्तिगत सुखों के खातिर स्वतंत्रता का अतिक्रमण ही यदि नारीवाद का घोषित उद्देश्य है तो आवां की यह एक उपलब्धि है। वृद्धा किशोरी बाई और उनकी बेटी सुनन्दा अपने व्यक्तित्व में ही नमिता की सधर्मा है। प्रेम की दृढ़ता और मूल्यवत्ता को धर्म के ऊपर रखकर सुनन्दा ने जो त्याग किया उसका उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है। वह नमिता से कहती है— “प्रश्न

यह था दीदी कि मैं औरों की सुख संतुष्टि के लिए अपने सच को घोंट दूँ या अपने स्व के संरक्षण के लिए उसके उगने को देह धरने दो, उसे एक पूरी की पूरी काया ग्रहण करने दो, सुहैल ने प्रेम करने के समय तो कोई शर्त नहीं रखी ? ब्याह करना होगा तो उससे नहीं, इस्लाम से करना होगा..... या उसे हिन्दुत्व से ?”<sup>66</sup>

चित्रा जी ने स्त्री शरीर के घृणित उपयोग की दुर्दशा को अन्ना साहेब पवार जैसे पात्रों के माध्यम से उजागर किया है। अन्ना साहेब नमिता को बेटी मानता है, इसके बावजूद उसके रूप रस का पान करना चाहता है। इस प्रकार उपन्यास में एक शोषण मिटाने के लिए दूसरा शोषण दिखाई पड़ता है, जिसकी पूर्ति में पुरुष प्रधान समाज अनेक मुखौटों का सहारा लेता है। नमिता कुचक्र के भंवर में फसने के बावजूद स्वयं को संभाल लेती है। इस उपन्यास के नारी पात्र बार-बार के मोहभंग के बाद ही सजग हो पाये है और यही सजगता ही उपन्यास का प्राण तत्व भी है। अवरोध उत्पीड़न में आवां में तपकर स्त्री अस्मिता का उत्कर्ष हुआ है।

### अन्तर्वशी (2000)

ऊषा प्रियम्बदा के उपन्यासों की विषयवस्तु मध्यवर्गीय जीवन है। यह मध्यवर्ग कभी भारतीय है तो कभी प्रवासी भारतीय जो अपने को उच्चवर्ग में प्रस्थापित करने की होड़ में लगा है। भारतीय मध्यवर्ग के सन्दर्भ में उनकी आर्थिक परेशानी जीवन की विडम्बना, कुण्ठा, अकेलापन और संत्रास को अनुभूति के स्तर पर उतारा गया है। प्रवासी भारतीय मध्यवर्ग के चित्रण में उनकी महत्वाकांक्षा और संघर्षमय जीवन के साथ उनकी धूर्तता, दंभ एवं छल, पाखण्ड को उघाड़ा है।<sup>67</sup>

अन्तर्वशी की कथा की नायिका बनारस की चुनमुन उर्फ वनश्री उर्फ अमेरिकन ‘वाना’ है। जिसका विवाह कनाडा में रहने वाले शिवेश से होता है, उसके दो बच्चे हैं लेकिन वह अपने पति शिवेश के प्रेम रहित यौन व्यापार से दुखी है। वह शिवेश के मित्र राहुल के प्रति आकृष्ट है। राहुल कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय जाते समय

दुर्घटनाग्रस्त हो जाता है। घायल राहुल को शिवेश के घर लाया जाता है। वाना बड़ी तन्मयता के साथ राहुल की सेवा करती है। इसी दरम्यान दोनों के बीच लगाव बढ़ जाता है। इधर शिवेश लखपति बनने की लालच में विश्वविद्यालय की अस्थायी विभागीय नौकरी छोड़कर कोकीन की तस्करी का धंधा करने लगता है पुलिस की पकड़ से बचने के लिए शिवेश अपने पार्टनर के साथ फरार हो जाता है। वाना के सामने घर पर पुलिस का छापा न पड़े इस ख्याल से शिवेश के अनुरोध से वाना बच्चों और राहुल के साथ एक दूर शहर के घर में रूकती है। एक दिन वाना राहुल के कमरे में प्रवेश करती है और दोनों के बीच शारीरिक संबंध बन जाता है और वह गर्भवती हो जाती है। एक दिन शिवेश छिपे-छिपे घर आता है और वाना उसे शिवेश 'आई एम लीविंग यू' कहती है। शिवेश रात में आत्महत्या कर लेता है। समाचार पाकर राहुल वहाँ पहुँचता है वाना और राहुल के मिलन से कथा समाप्त हो जाती है।

अपने नारी विमर्श के अनुकूल आधुनिक नारी की अस्मिता के मूर्त रूप में ऊषा जी ने वाना का चरित्र गढ़ा है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वाना के चरित्र का नैतिक पतन अनुचित लगता है। वाना शुरू से ही अपने पति के प्रति वफ़ादार नहीं रहती। वह किस्तीना से बताती है— "शिवेश को पहले दिन से ही पति के रूप में ग्रहण करना मेरे लिए यातना रही है। घोर टार्चर।"

अन्तर्वशी की मुख्य कथा के भीतर छोटे-छोटे आख्यान भी हैं। पहला सारिका से संबंधित है जो अस्पताल में तीन साल के कांट्रेक्ट पर आई है। वाना और सारिका में गहरी दोस्ती है। स्वावलम्बन, आत्मविश्वास नारी स्मिता आदि की शिक्षा वाना सारिका से ही सीखती है। दूसरा आख्यान बगला देशी अंजुमन का है जिसका पति असलम अहमद अस्पताल की एक गोरी नर्स से संबंध बनाता है और अंजुमन को तलाक दे देता है। लेकिन कुछ समय के बाद असलम और गलेरिया का संबंध विच्छेद हो जाता है। और वह पुनः अपनी बीवी अंजुमन के पास चला आता है और अंजुमन उसे माँफ कर देती है।

अन्तर्वशी में सेक्स के प्रति ऊषा जी का संयम एक दम टूट गया है। राहुल और रतना की रति का मादक चित्रण करते हुए ऊषा जी ने अपनी वर्जना को तोड़ा है। “राहुल उसके शरीर को हल्के-हल्के सहला रहा है, जैसे पहली पहचान बना रहा है। उसकी हथेलियाँ तप रही हैं, और वह उसकी बाहों में बंधी चुप है उसकी अर्द्धग्न तप्त साँसों राहुल के चेहरे को बींध रही हैं— वह धीरे-धीरे उसे चूमता है, पहले माथा, फिर व भौहें, मोटी-मोटी पलक ढली आँखें, फिर होंठ और फिर उसके अपने घोंठ उसके वक्ष को पा जाते हैं। पहले वह चूमता है, हल्के-हल्के अपनी जुबान की नोंक से उन्हें चाटता है।” वाना और क्रिस्तीन के समलैंगिक संबंध के चित्रण में संयम एकदम टूट गया है “क्रिस्तीन दायें हाथ से वाना की ब्लाउज के बटन खोल रही है। वह अधीर है और बायें हाथ से अपने गुलाबी कुचाग्रों को स्वयं दुलरा रही है। फिर वह वाना के वक्ष में अपना चेहरा छुपा लेती है। वाना उसकी तेज गरम सांसे महसूस करती है और अनुभव करती है। क्रिस्तीन की जीभ का सिरा जो उसे चूम रहा है। एक मीठी, मनजानी मगर सिहरन पूर्ण सनसनी से वाना का शरीर काँपने लगता है उसकी बाहें अपने आप क्रिस्तीन को घेर लेती हैं।” चरित्र परिवेश एवं संवेदना की दृष्टि से अन्तर्वशी ऊषा प्रियम्बदा के तीन पूर्व उपन्यासों पचपन ‘खम्भे लाल दीवारें’ ‘रूकोगी नहीं राधिका’ और ‘शेषयात्रा’ की पुनः प्रस्तुति है। “प्रेम के त्रिकोणात्मक ढाँचे के भीतर इसकी कथा बहुत ही सामान्य और बचकानी हो गयी है। वाना उर्फ ‘बंसरी’ को भीतर बजने वाली बांसुरी को आधार बनाकर उपन्यास का शीर्षक अन्तर्वशी रखा गया है। लेकिन उपन्यास में वाना के मन की सुरीली तान की अपेक्षा उसकी देह की पुकार ही अधिक मुखरित है। उपन्यास को रोचक बनाने के लिए प्रेम, सेक्स एवं अपराध से कथा बुनी गई है। परिणामतः अन्तर्वशी केवल एक फार्मूला बद्ध उपन्यास रह गया है।”<sup>68</sup>

### अल्मा कबूतरी (2000)

अल्मा कबूतरी, कबूतरा जाति में जन्मी अल्मा की संघर्षगाथा है। अल्मा का पिता रामसिंह उसे पढ़ा कर सभ्य समाज के लायक बनाता है। रामसिंह के संरक्षण में



कदमाबाई कबूतरी का बेटा राणा भी पढ़ता है। अल्मा एवं राणा में प्रेम हो जाता है और दोनों शादी करना चाहते हैं, किन्तु पुलिस रामसिंह को डाकू समझकर मार देती है उसकी मृत्यु के बाद सब कुछ उलट पलट जाता है। अल्मा सूरजभान जैसे डाकू राजनेता के चंगुल में फंस जाती है, जो मंत्री और नेताओं के लिए युवतियों की सप्लाई करता है। यहीं पर अल्मा धीरज नामक युवक से प्रेम करने लगती है, जो अल्मा को सूरजभान के चंगुल से मुक्त कराता है। किन्तु यहाँ से निकलकर वह सूरजभान के प्रतिद्वन्दी श्रीराम शास्त्री के यहाँ पहुँच जाती है। इधर खिसियाया हुआ सूरजभान धीरज का बधिया करा देता है, इधर अल्मा धीरे-धीरे श्रीराम शास्त्री की मंत्री, दासी, माता और प्रेयसी सब कुछ एक साथ बन जाती है, किन्तु उसका यह सुख भी शीघ्र ही छिन जाता है। श्रीराम शास्त्री की हत्या कर दी जाती है और अल्मा परंपरा को चुनौती देती हुई उन्हें मुखाग्नि देती है, तदनन्तर उसे शास्त्री की खाली सीट पर विधान सभा के लिए प्रत्याशी घोषित किया जाता है। इस प्रकार अल्मा कबूतरी समकालीन राजनीतिक दिशा हीनता अपराधीकरण बेरोजगारी तथा जीवन मूल्यों के घोर पतन की गाथा भी है। सामाजिक जड़ता को तोड़ती अल्मा जैसी दलित नारी की अपराजय जिजीषा समकालीन नारी चेतना को शक्ति एवं प्रेरणा देनेवाली है जो सामाजिक व्यवस्था के प्रति आक्रोश उत्पन्न करने में सामर्थ्य है।

### समय सरगम (2000)

‘समय सरगम’ के माध्यम से सोबती जी ने स्त्री पुरुष सम्बंधों का विश्लेषण किया है। उपन्यास के केन्द्रीय पात्र ईशान और कामनी के बीच आत्मीय सम्बंध थे, जो लक्ष्मी की मृत्यु के बाद विकसित हुए। लेकिन यह सम्बंध किसी अवरोध के कारण स्थायी नहीं बन सका। ईशान के माध्यम से सोबती जी सवाल करती हैं कि “क्या एक स्त्री के साहचर्य और आत्मीय अंतरंगता के बाद पुरुष उसकी स्मृति को सहलाकर नहीं जी सकता? क्या पुरुष के लिए स्त्री जीवन की अन्तिम सांस तक अपरिहार्य है .....पुरुष की शक्ति स्त्री के धैर्य के सामने पराजित हो जाती है .....‘समय सरगम’ प्रेम के इस

पक्ष पर रोशनी डालता है और यह द्योतित करता है कि प्रेम को केवल पाने या भोगने की वृत्ति से मापना अपने को धोखे में रखकर तोड़ना है। प्रेम अपने में दूसरों के जीना महसूस करना और निरंतर उसके भीतर बजते रागों से शक्ति लेने का नाम है।<sup>69</sup>

इसमें ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ सोबती जी ने पुरुषों द्वारा स्त्रियों के प्रति भेदभाव को पर्याप्त बल देकर गलत ठहराया है। वे न तो स्त्री पुरुष में भेद करती हैं और न भेद करने वाले को बर्दाश्त करती हैं। उनका नारीवाद भी पुरुषों की बराबरी में खड़े होकर उन्हीं के आचरणों की प्रस्तावना नहीं करता। वह पुरुषों के समानान्तर खड़े होने और स्वयं को स्वावलम्बी बनाने पर बल देता है। “ब्रह्म को प्राप्त करने की शक्ति हर किसी के भीतर से आती है। स्त्री हो या पुरुष।”<sup>70</sup>

आगे वे स्त्रियों को बढ़ाने में अभिभावकों से सहयोग की अपील करती हैं— “पुरानी व्यवस्था अब भी कायम है नये बदलावों के साथ। लड़के और लड़की में भेद परिवार में पुत्री और पुत्र का भेद। परिवार में पुत्री और पुत्र का अबोला द्वन्द्व जारी है। गर्भ में ही पुत्रीयों की हत्या और पुरुषों के संरक्षण साधन भाई-बहनों में झगड़े चलते रहते हैं। कानून बन चुके हैं, मगर उन्हें लागू कौन करेगा! मता-पिता ही तो।”<sup>71</sup>

## तिरोहित (2001)

उपन्यास के माध्यम से गीतांजलि श्री ने स्त्री विमर्श को वयस्क दृष्टि प्रदान की है। “शेषकादम्बरी” की रूबी गुप्ता के विपरीत तिरोहित की ‘ललना’ अतीत-अधिकार, भविष्य अधिकार से मुक्त एक अनाम जड़ विहीन नारी पात्र है। मुहल्ला उसे लल्लन की बहू के नाम से जानने लगा। .....लल्लन मर गया और लल्लन का बाप उसे धंधे में बिठाना चाहता था इसलिए वह भाग आयी।”<sup>72</sup>

स्त्री संसार की अंजानी पत्तों को खोलने के लिए गीतांजलि जी स्त्री या मर्द मुहावरा न अपनाकर जो वयस्क मुहावरा अपनाती हैं वह कई स्त्री लेखिकाओं की आक्रमक मुद्रा को गैर जरूरी सिद्ध करता है। ‘तिरोहित’ के वृत्तान्त में स्त्री समलैंगिकता का प्रश्न शारीरिक पसंद या यौवन विकल्प तक सीमित न होकर स्त्री की

उस व्यापक दुनिया में रचा बसा है। जिसे नारीवादी सिद्धान्तकार 'एन्डरीन रिच' ने 'लेसबियन कान्टीन्यूम' की संज्ञा दी है। उनके अनुसार— सम्पूर्ण इतिहास क्रम में हर स्त्री जीवन के सभी स्त्री चिन्हित अनुभव इसमें शामिल है। मात्र यह नहीं कि किसी स्त्री ने किसी अन्य स्त्री से यौन इन्द्रिय अनुभव प्राप्त किया या सजग रूप से इसकी कामना की। तिरोहित की ललना अदृश्य नहीं है बल्कि अदृश्य दिखलाई गयी है, क्योंकि बकौल ललला— "कथरी पर पड़ी सोती रहूँ तो भी वहाँ नहीं न, इसकी गोद में, उसकी कमर से लिपटी ही दिखूँगी।"<sup>73</sup> इस उपन्यास का 'लेबरनम हाऊस' पुरुष सत्ता की वह सामाजिक निर्मित है जहाँ सबके अमर चैन के लिए जरूरी था कि ललना हर हाल में उनसे अलग दिखे और उसकी बनाई कसौटी पर खरी उतरने का दुःसाहस न दिखाए।

### तापसी (2003)

कुसुम अंसल ने भूमिका के रूप में लिखा है— "मैं तो केवल समाज के सम्मुख उन विधवाओं का जो विशेष रूप से बंगाल से आई हैं या खदेड़ दी गई हैं, उनका दर्दिला यथार्थ, उन आत्माओं का काल कोठरी जैसा परिवेश, खरीद फरोख्त होते जिस्म, नैतिक—अनैतिक होते सभी कर्म, चोरी, वेश्यावृत्ति, बेबस हाथ, मजीरा बजाकर हरी धुन गाते मुखौटों का सच बयान करना चाहती हूँ।"<sup>74</sup>

वृन्दावन के माध्यम से उपन्यासकार ने बड़े—बड़े शहरों के रईशों द्वारा बनवाए गये विधवा आश्रमों में रह रही विधवाओं का हृदय विदारक चित्रण किया है, जो इस संसार में अपने होने की सजा भुगत रही हैं। वृन्दावन में एक तरफ तो बड़ी—बड़ी मूर्तियों वाले मंदिर हैं, तो दूसरी तरफ चोर उचक्कों और व्यभिचारियों को प्रश्रय देते मठाधीश हैं। "यही पण्डित और महन्त साधू बाबा लोग बड़े काइयां हैं। उनके नीचे उनके गुण्डे हैं। शिष्यों के नाम पर पूरा नेटवर्क है यहां। वे क्या नहीं करते, गांजा चरस की सप्लाई या अफीम हथियार कुछ भी। जिसकी चाहे दिन दहाड़े हत्या कर देते हैं। कैसे—कैसे कुकरम कर देते हैं, अपने भगवा कपड़ों के नीचे बलात्कार तो चीटी मसक देने जैसा है उनके लिए।"<sup>75</sup>

लेखिका ने तापसी, बरौता, बृन्दा के सहारे वृन्दावनों में रह रही विधवाओं की दुर्दशा को अस्पष्ट किया है। वृन्दा आर्थिक विषमता के कारण कभी-कभी खाने पीने की चोरी करके और अपनी अस्मत् लुटाकर बीमार पुत्री को पालती है लेकिन उसकी बेटी समुचित इलाज के अभाव में कालकलवित हो जाती है। तापसी बचपन से ही प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करती है और अन्त में दुःखदायी मृत्यु को प्राप्त होती है क्योंकि शायद यह वेश्या पुत्री थी। उपन्यास में एक पत्रकार जो स्त्रियों में चेतना जागृत करने का प्रयत्न करता है, उसकी जीभ काट दी जाती है। नारी पात्रों के दर्द को उपन्यास में अलंकारिक भाषा में कुछ इस प्रकार समझ सकते हैं। “यादों के रेगिस्तान में मीलों भटकने पर भी कोई ठोस पत्थर जैसा हाथ कहाँ आता है। हाथ आती है केवल कुछ बालुई स्मृतियाँ, आंसू जो कभी नहीं सूखते।”<sup>76</sup>

### रंगशाला (2003)

यह सिम्मी हर्षिता जी का एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास है। इसे स्त्री विमर्श का उपन्यास कहा जा सकता है क्योंकि कथानायिका पति-पत्नी को वास्तविक धरातल पर देखना चाहती है। परन्तु यह पारिवारिक सम्बंधों में पाई जाने वाली दोगलेपन की आलोचना है जिसके भीतर पूरा समाज समा जाता है। नारी मुक्ति की उन्मुक्त देहगाथा के विरुद्ध यह कथा रचना दाम्पत्य जीवन पात्यव्रत्य या पत्नी व्रत्य के पुराने मिथकों के सहारे उच्चमध्यवर्गीय समाज में व्याप्त यौन भ्रष्टाचार को चित्रित करती है। उपन्यास में विवाहेत्तर काम सम्बन्ध एवं उसकी स्वीकृत एवं अस्वीकृत का प्रश्न है। राधिका को अपने पति की एकनिष्ठता पर विश्वास है, किन्तु उसकी चंचल सुन्दर भाभी कोषीना के साथ उसके पति का शारीरिक सम्बन्ध उसके विश्वास को खण्डित करता है। इस कारण से वह कुंठित हो जाती है और उससे मुक्त हो जाती है। नायिका प्रधान उपन्यास में खलनायिका भी स्त्री ही है। पूरे उपन्यास की स्त्री पात्रों की प्रतिक्रिया ही मुखर है। उपन्यास में पुरुष मानसिकता की अभिव्यक्ति भी ‘एलीट क्लास’ की क्लब सदस्या द्वारा ही होती है— “आज कल सब चलता है सब होता है। जीवन में ज्यादा शुद्धता की आशा करना ही व्यर्थ है। .....जब हमारे जीवन का आधार— हवा, पानी और

भोजन तक प्रदूषित हो गये; तब उन पर जीने वाले इंसान को क्या कहा जाए? प्रेमिकाएं, वेश्याएं, कालगर्ल, रखैलें, सदियों से चले आए पुरुषों के मन की ऐ रंग विरंगे मेले। स्त्री पुरुष के बीच चलता यह सनातन संग्राम, यह अंतहीन कोहराम।”<sup>77</sup>

राधिका की छोटी भाभी कोषीना का कई पुरुषों से सम्बंध है। वह एक बदचलन औरत है। धीरे-धीरे वह उसका पर्दाफाश कर डालती है। इसके बाद वह पति, पिता, प्रेमी और बाद में कोषीना से भी टकरा जाती है तो उसके पिता पुराने ख्यालात के हैं और उसे समझाते हुए कहते हैं— “घर परिवार में देवर-भाभी और जीजा-साली की छेड़-छाड़ तथा नॉकझॉक सदियों से चली आ रही है। हमारे पूर्वजों ने होली जैसे त्यौहारों को इन रिश्तों की कुण्ठाएं निकालने का एक माध्यम बनाया है। वेश्यालय भी इसीलिए बनाए गये हैं, ताकि भले घरों की औरते और घर सुरक्षित रह सके।”<sup>78</sup>

इस प्रकार पिता एक ही साथ पुरुषवादी सामंती मानसिकता और आज की उत्तर पूँजीवादी, उपभोक्तावादी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करता है। उपन्यास में, सम्बंधों में इमानदारी की मांग है, जो स्त्री मुक्ति के इस दौर में देह सम्बन्धों में उच्छृंखलता के बरअक्स सकारात्मक कदम है। इसमें स्त्री अस्मिता एवं अधिकार का चिंतन जारी रहता है परन्तु कहीं पर ऊब महसूस नहीं होती है।

### शेष कादम्बरी (2006)

उपन्यास की मूल कथा में रूबी गुप्ता की शरणार्थी मानसिकता पितृसत्ता के दुश्चक्र का परिणाम न होकर मातृसत्ता द्वारा बरती गई उस उपेक्षा का परिणाम है जिसके कारण न माँ का प्रेम मिला, न बेटा का। माँ से रूबी की शिकायत है कि— “माँ तुमने पूरे समाज, परिवार के सामने अपनाने में कोई रस्म अदा नहीं की..... इसीलिए मेरे लिए ‘पाली हुई लड़की’ जैसे अपमान जनक शब्दों का इस्तेमाल वकील ने करवाया..... मैं तो न यहाँ की रही न वहाँ की। मैं कहीं की नहीं रही माँ।”<sup>79</sup> उसे

(रूबी) अपनी बेटी से शिकायत है कि “गौरी का कलकत्ते में रहना या न रहना एक बराबर है, वह मुझे कोई सान्त्वना (पति की मृत्यु के बाद) नहीं दे सकती।”<sup>80</sup>

रूबी गुप्ता के दुःख के मूल में पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री की नियति है या विरासत का दंश? रूबी न तो पितृसत्ता से पीड़ित है और न ही वह इसे तोड़कर बाहर निकलना चाहती है। उसकी अस्मिता का सरोकार अंतरात्मा की जिस दुविधा का परिणाम है, वह स्त्री प्रश्न से परे है। रूबी को न अपने पिता से शिकायत है, न पति से। सच तो यह है कि “रूबी दी के पास सिर्फ एक पिता जी और दूसरे सुधीर (पति) हैं, जिन्होंने रूबी से ऐसा कोई सवाल नहीं किया जिसका जवाब उसके पास नहीं था। रूबी दी उन दोनों के प्रति कृतज्ञ थीं।”<sup>81</sup>

रूबी गुप्ता की अस्मिता का प्रश्न भले ही नारी अस्मिता का प्रश्न न हो लेकिन शेष कादम्बरी में स्त्री प्रश्नों की भरपूर अनुगूँज है। जिस ‘परामर्श’ नामक स्वयंसेवी संस्था के माध्यम से वे अपने जीवन के खालीपन को भरना चाहती हैं, वह दुखी व सतायी महिलाओं की ही मददगार संस्था है। अपनी समस्याओं का निदान पाने के उपक्रम में ‘परामर्श’ से जुड़ी फरहा, निवेदिता, सविता, माया बोस व सायरा सरीखी स्त्रियाँ नारी प्रश्न के विविध आयामों को औपन्यासिक कथ्य में विन्यस्त करने का साधन बनती हैं।”<sup>82</sup> अन्तिम रूप से यह कहा जा सकता है कि इस उपन्यास का पाठ अभिजात्य के अकेलेपन को भिन्न-भिन्न रूपों (सामाजिक, ऐतिहासिक) से गुजारकर प्रस्तुत किया है।

## सेज पर संस्कृति (2008)

मधु काँकरिया के स्त्री दृष्टिकोण को यथार्थ के धरातल पर प्रकट करता यह उपन्यास साधियों के अन्धउत्पीड़न की करुण कथा है, जहां माँ आर्थिक विपन्नता के चलते सांसारिकता को छोड़कर वैराग्य चुन लेती है और अपने साथ अपनी जवान बेटियों को भी अध्यात्मिक अरण्य में ले जाकर भयावह दुःख, अकेलापन और अन्तरदाह

के संत्रास को झेलती है। शास्त्रार्थ के समय उसकी बेटियाँ ईसाई धर्म, मानव सेवा और विवेकानन्द पर बार-बार आ रही थीं जैन धर्म के अनुशासन में मुनि महात्मा का गीला बदन पोछने का काम उन्हीं का था। वे साध्वी तो हो सकती हैं पर मुनि और महात्मा नहीं, ईश्वर उनके भीतर मर चुका था। यहाँ बेटियाँ माँ की विरक्ति का प्रत्याख्यान कर रही थीं। “माँ हमारा संकट हौसला खो देने का है। जिन्दगी से इस प्रकार भागा नहीं जाता है। जिन्दगी बैठे-बिठाएँ मिल नहीं जाती है। खान से निकले कच्चे लोहे की तरह उसे ठोक पीटकर उसे अपने लायक बनाना होता है..... तुम्हारा वैराग्य यदि जीवन के प्रति स्वाभाविक विरक्ति, किसी बड़ी रोशनी में आने की व्याकुलता, तत्व चिंतन या परम की प्राप्ति के लिए होता, तो मैं विरोध नहीं करती। मैं आगे बढ़कर खोल देती ..... सारे दरवाजे लो उड़ो, जितना उड़ सकती हो तुम। पर तुम्हारे ख्वाबों ने पटरी इस कारण बदली कि अंधेरा तुम्हारी आत्मा तक फैल गया है कि इस उजड़े घर में तीन खाने वाले, कमाने वाला कोई हाथ नहीं। .....पर यह जान लो अम्मा कि जो कुछ है, उसे नकार कर कुछ भी हासिल नहीं कर पायेगी।”<sup>83</sup>

उपन्यास में ‘छुटकी’ के माध्यम से नारी उत्पीड़न का हृदय विदारक चित्रण दिखाई पड़ता है। आर्थिक विपन्नता के चलते वह साध्वी बनती है, वहाँ विजेन्द्र मुनि और अभय मुनि की वासना का शिकार होती है। तदुपरान्त कोठे पर देह व्यापार में बल पूर्वक लगाई जाती है जहाँ ऋषियों के शुक्राणु पनपते हैं और अन्ततः आत्मदाह के लिए विवश हो जाती है। उसकी मृत्यु का बदला संघमित्रा द्वारा मुनि का वध करके लिया जाता है। इस प्रकार उपन्यास में साधुओं की भोगवासना का जिस प्रकार का चित्रण किया गया है आज के परिवेश में भी इस तरह के पाखण्डी ढोंगी आशाराम बापू जैसे पात्र दिखाई देते हैं। आशाराम बापू और उसके पुत्र नारायण साई के रूप में मौजूद हैं अर्थात् बाप नम्बरी तो बेटा दस नम्बरी।

## संदर्भ ग्रंथ—सूची

- 1 उपन्यास की समकालीनता, ज्योतिष जोशी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2007, पृ० 184
- 2 खुशबू बनकर लौटेंगे, देवेन्द्र इस्सर, विद्यार्थी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1991, पृ० 19
- 3 वही, पृ० 67
- 4 विदा दीपदान, देवेन्द्र सत्यार्थी, प्रवीण प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1992, पृ० 203
- 5 वही, पृ० 203
- 6 मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, चौथा संस्करण 2015, पृ० 45
- 7 वही, पृ० 454
- 8 जहाँ है धर्म वहीं है जय, नरेन्द्र कोहली, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1993, पृ० 24
- 9 वही, पृ० 34
- 10 वही, पृ० 40
- 11 वही, पृ० 51
- 12 क्षमा करना जीजी, नरेन्द्र कोहली, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1995, पृ० 21
- 13 वही, पृ० 32
- 14 वही, पृ० 38—39
- 15 वही, पृ० 98
- 16 उपन्यास की समकालीनता, ज्योतिष जोशी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2007, पृ० 211
- 17 वही, पृ० 180
- 18 उपन्यास साहित्य, डॉ० विवेकी राय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 137
- 19 कुंतो, भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण 2016, पृ० 21
- 20 वही, पृ० 73
- 21 वही, पृ० 327
- 22 उन्माद, भगवान सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2000, पृ० 16
- 23 वही, पृ० 342
- 24 वही, पृ० 293
- 25 वही, पृ० 313
- 26 नीलू नीलिमा नीलोफर, भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2003, पृ० 242
- 27 वही, पृ० 87
- 28 कोहरे में कैद रंग, गोविंद मिश्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2004, पृ० 97
- 29 वही, पृ० 115
- 30 वही, पृ० 157—180
- 31 रह गई दिशाएं इसी पार, संजीव, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2011, पृ० 118
- 32 वही, पृ० 17
- 33 वही, पृ० 198
- 34 वही, पृ० 57



- 35 वही, पृ० 253  
36 यातना शिविर, सिम्मी हर्षिता, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण 1990, पृ० 15  
37 वही, पृ० 145  
38 वही, पृ० 190  
39 वही, पृ० 207-08  
40 ऐ लड़की, कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2001, पृ० 51  
41 वही, पृ० 61  
42 वही, पृ० 56-57  
43 कथा प्रसंग यथा प्रसंग, निर्मला जैन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2000, पृ० 98  
44 दिलो दानिश, कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2006, पृ० 12  
45 वही, पृ० 14  
46 वही, पृ० 63-64  
47 वही, पृ० 39  
48 वही, पृ० 169-70  
49 वही, पृ० 155  
50 हिन्दी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2002, पृ० 322  
51 छिन्नमस्ता, प्रभा खेतान, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण 2010, पृ० 10  
52 आधुनिक हिन्दी उपन्यास (भाग-2), संपादक नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 339  
53 छिन्नमस्ता, प्रभा खेतान, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण 2010, पृ० 25  
54 अपने-अपने कोणार्क, चन्द्रकान्ता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2006, पृ० 78  
55 वही, पृ० 70  
56 वही, पृ० 200  
57 निष्कवच, राजी सेठ, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1995, पृ० 73  
58 दसवें दशक के प्रतिनिधि उपन्यास, प्रो० मालती आदवानी, सार्थक प्रकाशन, पृ० 30  
59 एक पत्नी के नोट्स, ममता कालिया, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1997, पृ० 17  
60 वही, पृ० 22  
61 वही, पृ० 30  
62 उपन्यास की समकालीनता, ज्योतिष जोशी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2007, पृ० 61-62  
63 अनादि अनंत, मधु भाधुड़ी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1998, पृ० 11  
64 वही, पृ० 87  
65 दसवें दशक के प्रतिनिधि उपन्यास, प्रो० मालती आदवानी, सार्थक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 60  
66 आवाँ, चित्रा मुद्गल, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1999, पृ० 112  
67 समकालीन हिन्दी उपन्यास : समय और संवेदना, (संपादक) डॉ० वी०के० अब्दुल जलील, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 46  
68 वही, पृ० 52  
69 उपन्यास की समकालीनता, ज्योतिष जोशी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 153-57

- 
- 70 समय सरगम, कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2000, पृ० 66  
71 वही, पृ० 92  
72 उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता, वीरेन्द्र यादव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,  
73 पृ० 184-85  
74 तिरोहित, गीतांजलिश्री, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2007, पृ० 43  
75 तापसी, कुसुम अंसल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2003, पृ० 7  
76 वही, पृ० 51  
77 वही, पृ० 175  
78 रंगशाला, सिम्मी हर्षिता, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण 2003, पृ० 52  
79 वही, पृ० 86-87  
80 शेष कादम्बरी, अलका सरावगी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2002, पृ० 84  
81 वही, पृ० 108  
82 वही, पृ० 150  
83 उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता, वीरेन्द्र यादव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,  
संस्करण 2009, पृ० 178  
उपन्यास के विरुद्ध उपन्यास, परमानंद श्रीवास्तव, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद,  
संस्करण 2012, पृ० 197-198